वीर सेवा मन्दिर सस्ती ग्रन्थमाला का पंचम पुष्प

सुखकी झलक

(श्री १०५ पूज्य क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी के

महत्त्वपूर्ण प्रवचनोंका संग्रह)

संकलन कर्ता—

कपूरचन्द जैन बरैया बी० ए०

लश्कर

प्रकाशक—

वीर सेवा मन्दिर

७/३३ दरयागंज, देहली।

द्वितीयबार ५०००	वीर नि० सं० २४७६ वि० सं० २००७	मूल्य लागत मात्र बारह आना

प्रवक्ता भारतके अहिंसक सन्त
श्रीमान् १०५ पूज्य क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी

प्रस्तावना

प्रवक्ता पूज्य वर्णीजी और उनके प्रवचन

भारत सदासे आध्यात्मिक विद्याका केन्द्र रहा है। उसमे मुमुक्षु आध्यात्मिक योगियोंने अपनी आत्म-साधना और उग्रतपश्चर्याके अनुष्ठान द्वारा अध्यात्म विद्याके चरम विकासको पाकर जगतका भारी कल्याण किया है। इतना ही नहीं, किन्तु उन्होंने वस्तुतत्त्वकी यथार्थताको दिखाया और स्वयं उस आदर्शमार्गके पथिक अथवा नमूना बनकर आत्मविकासके अनुपम आनन्दको प्राप्त किया है। साथ ही, जगत को उसका सरल एवं सत्यमार्ग भी प्रदर्शित किया है। पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रशादजी वर्णी न्यायाचार्य उन्हीं आध्यात्मिक योगियों और अहिंसक सन्तोंमें से एक हैं। जिनकी छत्र छायामें रहकर अनेक मानवोंने अपने जीवन का उत्थान किया है। वर्णीजी केवल तत्त्वज्ञानी और अध्यात्म-विद्याके रसिक ही नहीं हैं, किन्तु तपस्वी होनेके साथ-साथ बड़े ही अहिंसक और वस्तुतत्त्वके यथार्थ उपदेष्टा भी हैं। आपमें राष्ट्रीयता है और देश व धर्मसे प्रेम है, तथा सबसे महान् वस्तु है जगतके कल्याणकी निरीह भावना आपकी दयालुता अथवा करुणा वृत्ति तो लोक-प्रसिद्ध है, आपने आजाद हिन्द फौजके फौजियोंकी रक्षार्थ अपनी चादर भी दे दी थी और उनकी रक्षाके सम्बन्धमें आपने जो उद्‌गार व्यक्त किये

थे वे आप की महानता के सूचक हैं। आप दीन दुखियोंके दुख-मोचन करनेके लिए अपनी शक्तिभर प्रयत्न करते रहते हैं आपका मानस लोककल्याणकी पवित्र भावनाओंसे ओत-प्रोत है आपकी ऐतिहासिक पैदलयात्राका उद्देश्य भी यही है। यद्यपि वृद्धा-वस्था और शारीरिक कमजोरी होनेके कारण इतनी बड़ी पैदल यात्रा करना और गर्मी सर्दी तथा वर्षातकी कठिनाइयों एवं विघ्नबाधाओं को सहना आसान काम नहीं है, किन्तु आत्मबल त्यागवृत्ति और निरीह लोककल्याणकी भावनाने आपमें अपूर्व बलका संचार किया था और आन्तरिक प्रेरणावश मई जून की उन तेज लुओंमें और वर्षा तथा शीतादिकी असह्य बाधा-ओंको सहते हुए लोक-हृदयोंमें आत्मकल्याणकी भावना जागृत करते, तथा अहिंसा और सत्यका यथार्थ प्रचार करते हुए आत्मसाधनामें निरत रहते हैं। आपकी यह पैदल यात्रा बिहारसे सी० पी० और सी. पी. से जगाधरी (अम्बाला) तक तथा देहली और देहली से विहार करते हुए अभीआप इटावामें विराजमान हैं। शीतकी 'असह्य बाधाएं' सहते हुए आपका स्वास्थ्य खराब हो गया था, पैरोंमें सूजन आगई थी, बुखारकी तेज़ीने जोर पकड़ लिया था, उस अवस्थामें भी पूज्य वर्णीजी वीतरागी थे और समयसारका नियमित समयपर प्रवचन करते थे। आप मानव-स्वभावके पारखी हैं। आपकी इस यात्रामें अनेक मुमुक्षु जीवोंने आत्म-साधना का व्रत लिया है और अनेकों के आचार विचारोंमें परिवर्धन, परिवर्तन और परिमार्जन हुआ

है तथा कितनोंको तत्वज्ञानके अभ्यासकी प्रेरणा मिली है।

आपका जीवन बड़ा ही शान्त है और शरीरकी आकृति सौम्य तथा स्वभावत: भद्र है। प्रकृति सुकोमल, निर्मल उदार और दयालुतासे आर्द्र है। वीतरागपरिणति, समीचीन दृष्टि और उदात्त भावना ये आपके लोकोत्तम जीवनके सहचर हैं। संसारके सभी प्राणियोंसे आपका निर्मम मैत्रीभाव है। यहां तक कि विपक्षियों-विपरीतवृत्ति वालों-पर भी आपका माध्यस्थ्य भाव रहता है उनसे आपका न राग है और न द्वेष है।

आपके जीवनकी दूसरी विशेषता यह है कि आप कभी किसी व्यक्तिकी निन्दा नहीं करते और न उसके अवगुणोंका प्रकाश अथवा प्रचार ही करते हैं। आपको इस प्रकारकी समालोचना भी इष्ट नहीं है, जो परोक्षमें दूसरोंके केवल दोषोंका उद्भावन करती हो। यदि कोई उन्हें जबरन सुनाने लगता है तो उस ओरसे आप अपना उपयोग हटा लेते हैं। अथवा उसे ऐसा न करनेका संकेत कर देते हैं। आप अपनी प्रशंसासे तो बहुत दूर रहते ही हैं। आपका व्यक्तित्व महान है और प्रज्ञा विवेकशालिनी हैं। आपकी पदार्थ विवेचना गम्भीर,मधुर, पर सरल मृदुल भाषा में होती है और वह वस्तुत्वकी यथार्थ निदर्शक होती है।

आपने अनेक शिक्षा संस्थाओंका निर्माण तथा भारतीय श्रमण संस्कृतिके प्रकाशक ग्रन्थोंके पठन-पाठनकी परम्पराका प्रचार किया है जिसके फल स्वरूप अनेक प्रतिष्ठित विद्वान आज जैन श्रमण संस्कृतिके प्रचार व प्रसारमें लगे हुए हैं। पूज्य वर्णी जी

ने जगतका और खास कर जैनसमाजका जो उपकार किया है वह इतिहासमे सुवर्णाक्षरोंमे अंकित रहेगा। और समाज चिरकाल तक आपका ऋणी रहेगा।

आपने अपना जीवन परिचय 'जीवनगाथा' नामकी पुस्तक में स्वयं ही लिखा है जो बहुतही महत्वपूर्ण और अनेक ऐतिहासिक जीवन-घटनाओंसे ओत-प्रोत है। उससे आप यह सहज ही जान सकेंगे कि उजियारी मा के लालने आदर्श बन जगत मे कैसा उजेला किया है।

प्रस्तुत पुस्तक आपके मुरार (ग्वालियर) में हुए गत चातुर्मास का प्रतिफल है-इसमें दिये हुए आपके महत्वपूर्ण कुछ प्रवचनोंका संकलन बा० कपूरचन्दजी बी०ए० बरैया लश्करने किया था, यदि सारेचतुर्मासके पूरे प्रवचनोंका संग्रह किया जाता तो एकबड़ा ग्रन्थ बन जाता पर ऐसा कोई कार्य आज तक नहीं किया जा सका पूज्य वर्णीजीके महत्वपूर्ण प्रवचनोंका संग्रह अवश्य होता रहना चाहिये और उसे उन्हीं के शब्दों मे प्रकाशित होना चाहिये।

भाई कपूरचन्द जी बी०ए० ग्वालियर ने पूज्य वर्णीजीके प्रवचनोंकी महत्तासे प्रेरित होकर उनका कुछ संकलन किया और उन्हे अपनी भाषामें लिखा था। यद्यपि लिखते समय उन्होंने पूज्य वर्णीजीके भावोंको तथा बुन्देलखंडके 'भैया' आदि मधुर शब्दों को ज्यों का त्यों रहने देनेका यथाशक्य प्रयत्न भी किया था, परन्तु वे उसमे कितने सफल हुए यह कहना कठिन है। बादमें उन्होंने अपनी ओरसे पुस्तकाकार प्रकाशित भी किया, परन्तु

इसमे प्रेस एवं प्रूफ सम्बन्धी अनेक महत्वकी अशुद्धिया ऐसी अधिक रहगई थीं कि उनका परिमार्जन हुए विना उससे यथेष्ट लाभ होनेकी सभावना न थी इसीसे उसका मैंने सशोधन सम्पादन कर तथा नये शीर्षकादिसे अलकृत कर श्री १०५ पूज्य क्षुल्लक चिदानन्दजीकी अनुमतिसे वीर सेवामन्दिर सस्ती ग्रन्थमालासे उसे प्रकाशित किया है । यह उसका द्वितीय संस्करण है ।

पूज्यवर्णीजीके प्रवचन कितने उपयोगी और मानवजीवनके हितसाधक हैं। इसे बतलानेकी आवश्यकता नहीं । वे आपके ७६ वर्ष के अनुभवपूर्ण तपस्वी जीवन, आत्मचिन्तन और गम्भीर पांडित्यके निदर्शक तो हैं ही , किन्तु साथमें अपनी वीतराग परिणति, तत्त्व मीमासा और वस्तुतत्वके प्रतिपादक हैं । इनका मनन करनेसे मानव अपनी दानवताका परित्याग कर आत्महित मे निरत ही नहीं किन्तु वह अनन्त संसारके पाशको छेदने में भी समर्थ हो जाता है । इससे पाठक इनकी महत्ताका अनुमान कर सकते हैं ।

अन्तमे मैं पूज्यवर्णीजीके दीर्घ जीवनकी कामना करता हुआ उनके चरणोंमें अपनी हार्दिक श्रद्धाजलि अर्पण करता हुआ बा० कपूरचदजी बी० ए० का भी आभारी हूं जिन्होंने इसके प्रकाशनकी सहर्ष अनुमति प्रदान की। इस द्वितीय संस्करण का प्रूफरीडिंग मुद्रक ने किया है ।

परमानन्द जैन

विषय-सूची

सुखकी झलकका शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	१३	पढते	पढ़ते
,,	२१	लोक	लोक:
३	३	ध्रवम	ध्रुवम्
४	१	परमात्म	परमात्मा
,,	४	भनवान्	भगवान्
५	६	चुकते हैं	प्रवेश करते हैं
६	२	जला	जली
६	११	लगया	ले गया
७	५	विवाइ	विवाह
,,	१५	शिरोधाय	शिरोधार्य
,,	२१	और	ओर
११	२०	चरित्र	चारित्र
१२	८	ममान	समान
१४	७	वरागी	वैरागी
१५	८	वह्	वह
१७	१५	मदन	मर्दन
१८	४	एड़ो	पड़ो
२१	६	ऊष्ण	उष्ण
२३	२०	विद्धांस	विद्वांस
२८	७	दावबादे	दोषवादे
२९	१	प्रवतता	प्रवर्तता
२९	२०	सम्यगदृष्टि	सम्यग्दृष्टि
३१	१७	मेरी	मेरे
३२	५	शुभोपयोप	शुभोपयोग
३४	३	सम्यग्त्वी	सम्यक्त्वी
३५	१६	मर्छा	मूर्च्छा
३७	१०	कन्टोल	कन्ट्रोल
३८	४	इछचओं	इच्छाओं
३८	६	त्यागीमें	त्यागमें
३९	२०	गृहस्थी	गृहस्थी
४१	१	चरित्रा०	चारित्रा०
४१	६	आत्मान-त्मेवात्मनो	आत्मानमेवात्मनो
४४	१५	सम्यदृष्टि	सम्यग्दृष्टि
४६	६	वजन-	वर्जन-
४९	११	परीवह	परीषह
४९	१६	हुए	हुए
,,	१९	लड्डू	लड्डू
५१	१९	सपार्श्वः	सुपार्श्वः
५३	१७	दिथा	दिया
५६	२१	लिया	दिया
५८	१२	स्वरूपस	स्वरूपसे
५९	३	मूछा	मूर्च्छा
६१	१	व्यीाम	व्याम
६१	७	विजचण	विलक्षण
६१	११	शात्र	शत्रु

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६४	६	ग्रुद्ध	युद्ध
६४	१३	पणिति	परिणति
७२	१५	पयार्थ	पदार्थ
७४	१२	निमल	निर्मल
७५	६	अनादिस	अनादिसे
७६	१५	चाहत	चाहते
७६	१६	लकर	लेकर
७७	१०	स्वादानमें	स्वदानमें
७८	१५	उपादय	उपादेय
७७	२१	मर्छा	मूर्च्छा
८१	१३	यत्त	यत्न
८२	६	गसलिए	इसलिए
८३	२०	चरित्रा	चारित्र
८७	१०	निर्षन	निर्धन
८७	१६	दृपार्थ	पदार्थ
८८	८	रुचि	रुच
९१	२०	ऊदलको	ऊदलकी
९८	१४	यस्त्वान	यस्त्वात्मानं
१००	२१	जाथगा	जायगा
१०३	१८	विनान	वितान
१०४	२	मिमित्त	निमित्त
१०६	१५	अद्भुद	अद्भुत
१०७	५	परिमाणु	परमाणु
"	६	मिथ्वास्वा-दि	मिथ्या-त्वादि
१०९	३	पत्र	पात्र
११०	४	ज्ञान बड़	ज्ञान बड़ा
११३	६	रत्नत्रर्या-त्मक	रत्नत्रया-त्मक
११८	१४	लषक	लपक
१२४	१६	रागान्न	रागान्नः
१३१	११	अथात्	अर्थात्
१३५	१९	ओई	कोई
१३७	८	आत्मा-कलयाण	आत्म कल्याण
१४०	१६	नने	नगे
१४२	१७	ल नहीं	लक्ष्य नहीं
१४८	१०	बचनी	वचन
१५०	१८	पुर्ण	पूर्ण
१६१	१	तात्पय	तात्पर्य
१६३	२०	अनिवचनीय	अनिर्वचनीय
१६९	८	जीवन के	जीवन से
१७३	२०	दु.खयायी	दुःखदायी
१७४	१२	अशान्त	अशान्त
१८३	८	मोक्षमार्ग	मोक्षमार्ग
१८५	८	चचा	चर्चा
१९१	२६	एरस्पर	परस्पर

तथा पृष्ठ १८१ के अन्त में 'है कि हम आत्मा को जान सकते हैं परन्तु बाह्याडम्बरों में फसने के कारण उसे हम भूले हुए हैं।' इतना और पढ़े ।

[पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी न्यायाचार्यके प्रवचनोंका संकलन]

मगलमय मंगल करन, वीतराग विज्ञान।
नमों ताहि जातैं भये, अरहन्तादि महान ॥

जीवकी शुभ-अशुभ प्रवृत्तियां

संसारमें मनुष्योंकी वर्तमान अवस्थाएँ शुभ और अशुभ इन दो विकृति भावोमे परिणमन कर रही हैं। कभी यह प्राणी शुभरूप प्रवर्तन करने लग जाता है और कभी अशुभरूप। प्राय. यह लोगों को विदित ही है कि शुभकार्य करने से पुण्य और अशुभ मे पाप होता है। अशुभके उदयसे तो भोग सामग्री मिलती ही नहीं, जिससे आकुलित रहता है और कदाचित् पुण्योदयसे प्राप्तभी हुई तो उसके भोगने मे आकुलित रहता है। आकुलता दोनों मे है। इसको दृष्टान्त पूर्वक यों समझना चाहिए कि एक शूद्रके दो लड़के हैं एक ब्राह्मणके यहा पला तो कहता है कि 'अहं ब्राह्मणोऽस्मि' मैं ब्राह्मण हू और दूसरा शूद्रके यहा पला तो वह अपने को शूद्र समझने लगा और इस प्रकार मदिरा मासका सेवन करने लगा। तो देखो एक ब्राह्मण है और दूसरा शूद्र। यदि दोनोंकी उत्पत्तिका विचार किया जाय तो वे शूद्र के

ही हैं। इसी तरह शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनों अशुद्ध हैं। शुभोपयोग से स्वर्गादिक और अशुभोपयोगसे नरकादिक प्राप्त होता है। परन्तु हैं दोनों संसारके कारण, एक स्वर्णकी बेड़ी है तो दूसरी लोहेकी बेडी। दोनों हैं बेड़ी ही। परन्तु इन दोनोसे भिन्न एक तीसरी वस्तु और है और वह है शुद्धोपयोग जिसके अन्दर न तो शुभ और अशुभका विकल्प है और न किसी प्रकारकी आकुलता। वह तो एक निर्विकल्प भाव है। सम्यग्दृष्टि यद्यपि शुभोपयोग करता है पूजा दानादिमें प्रवृत्ति करता है परन्तु अन्तरंगसे वह इनकी भी चाहना नहीं करता। जैसे किसी मनुष्यको १०००) रु० का दण्ड हुआ, परन्तु उसने अपनी चतुराईसे १००) रु० घूस देकर ६००) रु० बचा लिए। उसे अपार खुशी होनेकी बात ही थी, पर पूछो तो वह अन्तरंगसे यही चाहता था कि ये १००) रु० भी नहीं देने पड़ते, तो अच्छा था। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि समझता है कि यहमैं अशुभोपयोगसे बचा तो अच्छा हुआ, पर जो शुभोपयोगरूप क्रिया कर रहा हूँ यदि वह भी नहीं करनी पड़ती तो ही अच्छा था। मुझसे यदि पूछा जाय तो सम्यग्दृष्टिको करना पड़ता है पर करना नहीं चाहता। यहा तक कि वह भगवानसे भी स्नेह अन्तरङ्गसे नहीं करता। स्नेहको ही बंधनका कारण मानता है। यही श्रीसमय-सारमें कहा है —

लोक कर्म ततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पन्दात्मक कर्म तत्।

तान्यस्मिन् करणानि सन्तु चिदचिद्व्यापादनं चास्तु तत् ॥
रागादीनुपयोगभूमिमनयञ्ज्ञानं भवेत् केवलम् ।
बन्धंनैव, कुतोऽप्युपैत्ययमहो लम्यग्दृगात्मा ध्रुवम ॥

स्नेह तो भगवानसे भी अच्छा नहीं। जहाँ चिककणता होगी वहीं तो धूल कण इत्यादि जमेंगे। देखो स्नेहसे ही तिल्ली, जिसमें तेल रहता है, घानीमें पेला जाता है, बालूको कोई भी नहीं पेलता कृतान्तवक्र जो महाराज रामचन्द्रके सेनापति थे वे जब संसारसे विरक्त हुए तो राम कहने लगे देखो तुम बड़े सुकुमार हो। आज तक तुमने किसीका तिरस्कार नहीं सहा। यह दिगम्बरी दीक्षा कैसे सहन करोगे? इसी समय कृतान्तवक्र कहते हैं कि हे राजा राम! तुमने कहा सो ठीक है। मुझे तुमसे बड़ा जबरदस्त स्नेह था यही मेरे लिए सबसे बड़ी परीषह थी। सो जब मैंने तुमसे स्नेह तोड दिया, तो यह दिगम्बरी दीक्षा कौन सी बड़ी बात है? स्नेह से ही मनुष्य बन्धन में पडता है। परमार्थदृष्टिसे तो भगवान् में भी स्नेह बन्धनका कारण है, मनुष्य नाना प्रकारकी कामनाओंको भगवान्से याचना करता है यह कितनी बड़ी भूल है। जो भगवान् उपेक्षक-रागद्वेषसे रहित-स्वात्मामें मग्न है, उससे जो संसार सम्बन्धी भोग चाहता है तो मैं कहूँगा कि उसने भगवान् के स्वरूपको ही नहीं पहचाना। जो अर्हत देव वीतराग हैं उनसे जो रागकी इच्छा करता है तो उसने सच्चे लगनसे भक्ति ही

नहीं की। वह परमात्म जो मोक्ष का दाता है उससे स्वर्गादिक विभूतिकी इच्छा करना, यह बात तो भइया, हमारी समझ नहीं आती। यह तो ऐसा हुआ जैसे करोड़पति से १०० रु० की चाह करना। धनजयने भगवानकी नाना प्रकारसे स्तुति की। अन्तमें यही कहा कि प्रभु मैं आपसे कुछ नहीं चाहता। निम्नलिखित श्लोकमें धनजय कविने कैसा गम्भीर भाव भर दिया है:—

इति स्तुतिं देव विधाय दैन्याद् वरं न याचे त्वमुपेक्षकोसि
छाया तरुं संश्रयतः स्वतः स्यात्कश्छायया याचितयात्मलाभः।

मैं तो यही कहूंगा कि देवाधिदेव अरहन्तदेवसे तो संसार सम्बन्धी किसी भी प्रकारकी इच्छा करना ऐसा ही है जैसा वृक्ष के तले बैठकर वृक्षसे छायाकी याचना करना। भगवानके स्वरूपको समझनेका प्रयत्न करो। वह शान्तिमुद्रा-युक्त, संसार से विरक्त हितैषी, परमवीतराग और मोक्षलक्ष्मीके भर्त्ता हैं, उनसे किसी भी प्रकारकी कामना मत करो। वह तो यह बतलाते हैं कि देखो जैसे हमने दीक्षा धारण करके मुक्ति प्राप्त की वैसा ही तुम भी दीक्षा धारण कर मुक्तिके पात्र बनो।

लोकमें देखो दीपकसे दीपक जोया जाता है। बड़े महर्षियों की उक्ति है कि पहले तो यह जीव मोहके मंद-उदयमें 'दासोऽहं' रूपसे उपासना करता है, पश्चात् जब कुछ अभ्यासकी प्रबलता से मोह कृश हो जाता है, तब 'सोऽहं, सोऽहं' रूपसे उपासना करने लग जाता है। अन्तमें जब उपासना करते करते शुद्ध ध्यान

की ओर लक्ष्य देता है तब यह सर्व उपद्रवों से पार हो स्वयं परमात्मा हो जाता है। अत. भक्तिका तो सच्चा महत्व यही है कि आत्माको परमात्मा बनाओ।

मोहकी महत्ता

मनुष्यका मोह बड़ा प्रबल होता है। यह सारा संसार मोह का ठाठ है। यदि मोह न होय तो आया करो आस्रव, वह कभी भी बंधनको प्राप्त नहीं होता। जिनेन्द्र भगवान् जब १३ वें गुण-स्थान (सयोगकेवली) मे चारों घातिया कर्मोंका नाश कर चुकते हैं तब वहा योग रह जाते हैं योगोंसे आस्रव आते हैं परन्तु मोहनीयकर्मका अभाव होने से कभी भी बंधते नहीं, क्योंकि आस्रवोंको आश्रय देने वाला जो मोह कर्म था उसका वे भगवान् सर्वथा नाश कर चुके। अरे, यदि गारा नहीं, तो ईंटे चुनते चले जाओ, कभी भी स्थिरताको प्राप्त नहीं होंगा। इसको दृष्टान्तपूर्वक यों समझना चाहिए कि जैसे कीचड़ मिश्रित पानी है, उसमें कतक फल डाल दिया तो गंदला पानी नीचे बैठ गया और ऊपर स्वच्छ जल हो गया। उसे निताराकर भाजनान्तर अर्थात् स्फटिकमणिके वर्तनमे रखनेसे गदलापन तो नहीं होगा, किन्तु उसमें जो कम्पन होगा अर्थात् जो लहरें उठेगी वह शुद्ध ही तो होंगी, सो योग हुआ करो। योग-शक्ति उतनी घातक नहीं, वह केवल परिस्पन्द करती है। यदि मोहकी कलुषता चली जाय, तब वह स्वच्छतामे उपद्रव नहीं कर सकती, और उस बंधको जिसमे स्थिति और अनुभाग होता है नहीं कर सकती, इसलिए अबन्ध है। और वस्तु स्थिति

अपने पुत्र लवाकुशको ओर तो देख। तब सीता कहती है हे राम ! आप यह कैसी पागलपनकी बाते कर रहे हो ? तुम तो स्वयं ज्ञानी हो। संसारसे तो विरक्त होते नहीं, और मुझे विरक्त होने में बाधा करते हो। तुम्हे शर्म नहीं आती। मोहकी विडम्बना-का तो जरा अवलोकन कीजिये। एक दिन वह था जब सीता ने रावणके यहां रामके दर्शनार्थ खाना पीना विसर्जन कर दिया था। आंसुओंमे सदा मुह धोती रहती थी। आज वही सीता रामके सन्मुख हो ऐसे वचन कहे कि 'तुम्हे शर्म नहीं आती'। कैसी विचित्र मोह माया है। राम जैसे महापुरुष भी इसके फन्देसे न बच सके। जब सीता हरी गई तो पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी उसके विरहमें इतने व्याकुल रहे, जो वृक्षोंसे पूछते है कि 'अरे क्या तुमने कहीं हमारी सीता देखी है' यही नहीं बल्कि वही पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी श्रीलक्ष्मणके मृत शरीरको लेकर ६ मास तक सामान्य मनुष्योकी तरह भ्रमण करते रहे। क्या यह मोहका जादू नहीं है ? वाह रे मोह राजा ! तूने सचमुच जगतको अपने वशवर्ती कर लिया। तेरा प्रभाव अचिन्त्य है। जैसे भगवान् की लीला अपार है तो तेरी लीला भी अपरम्पार है। कोई भी तीन लोकमे ऐसा स्थान नहीं, जहां तूने अपनी विजय-पताका न फहराई हो। जब सीता महारानी और राम जैसे महापुरुषोंकी यह गति हुई, तो और रंक पुरुषोंकी क्या कथा ? धन्य है तू और तेरी लीला को।

सम्यग्दृष्टि और उसकी प्रवृत्ति

अब कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि कौन है? जिसको हेयोपादेयका ज्ञान हो गया है वही सम्यग्दृष्टि है। इसका दृष्टान्त इस प्रकार है कि देवदत्त और यज्ञदत्त दो भाई थे। उनके दो लड़के थे। एक देवदत्त का और दूसरा यज्ञदत्तका। एक दिन देवदत्त दो आम लाया। पहला आम दूसरेकी अपेक्षा कुछ अच्छा था। विशेष अन्तर नहीं था। उसने अच्छे आम को दाहिने हाथ मे लिया, कुछ न्यूनता लिए दूसरे आम को बाये हाथमें, और दोनों लड़कों को अपने पास बुलाया। जो उसका लड़का था वह बाई ओर बैठा और दूसरा दाहिनी और। अब देखो, उसको सीधे हाथ करके दोनों आमोंको सीधे दे देना चाहिये था। ऐसा न करके उसने दाहिने हाथको बायें वा बाए हाथको दाहिन कर वे दोनो आम उन दोनों लड़कों को दे दिए। उसका भाई दूर से खड़ा हुआ यह कौतुक देख रहा था वह तुरन्त उसी समय आकर बोला 'भाई,' मुझे तो अलग कर दो' वह बोला 'क्यों' किसलिये अलग होना चाहते हो? उसने कहा, तुम जानते हो या मैं जानता हूँ। वैसे ही सम्यग्दृष्टिको आत्मा और अनात्मा का भेद-विज्ञान प्रकट हो जाता है। वह सकल बाह्य पदार्थोंको हेय जानने लगता है। पर-पदार्थों से उसकी मूर्छा बिल्कुल हट जाती है। यद्यपि वह विषयादि में प्रवर्तन करता है परन्तु वेदना का इलाज समझ कर। क्या करे, जो पूर्व बद्धकर्म हैं उनको वो भोगना ही पड़ता

है। हां, नवीन कर्मका बंध उस चालका उसके नहीं बंधता। हमको चाहिये कि हमने अज्ञानावस्थामें जो कर्म उपार्जन किये है, उनको हटानेका प्रयत्न न करें, बल्कि आगामी नूतन कर्मका बन्ध न होने दें। अरे, जन्मान्तरमें जो कर्मोपार्जन किये गये हैं उनको तो भोगना ही पड़ेगा। चाहे रो करके भोगो, चाहे हंस करके। फल तो भोगना ही पड़ेगा, यह निश्चित है। यदि 'हाय हाय' करके भइया रोगकी शान्ति हो जाय तो उसे भी कर लो। परन्तु ऐसा नहीं होता। हाय हायकी जगह भगवान् भगवान् कहें और उस वेदनाको शान्ति से सहन करले और ऐसा प्रयत्न करे जिससे आगे वैसा बंध न होय। हाय हाय करके होगा क्या? हम आपसे पूछते हैं इससे उलटा कर्म बन्ध होगा। सो ऐसा हुआ, जैसे किसी मनुष्यको ५००) रु० मय ब्याजके देना था सो तो दे दिया, ६००) रु० और कर्जा सिर पर ले लिया। जैसा दिया वैसा न दिया। तो हमको पिछले कर्मोंकी चिन्ता न करनी चाहिये, बल्कि आगामी कर्मका सबर करे। अरे, जिसको शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना है वह नवीन शत्रुओंका आक्रमण रोक देवे और जो शत्रु गढ़ में हैं वह तो चाहे जब जीते जा सकते हैं। इसकी चिन्ता न करे। चिन्ता करे तो आगामी नवीन बंधकी, जिससे फिर बन्धन में न पड़े, और जो पिछले कर्म हैं वह तो रस दे कर खिरेंगे ही, उनको शान्ति पूर्वक सहन करले। आगामी कर्म-बन्ध हुआ नहीं, पिछले कर्म रस देकर खिर गये। आगामी कर्जा लिया नहीं पिछला कर्जा

अदा किया। चलो छुट्टी पाई। प्रत्याख्यानका मतलब क्या है? आगे आने वाले कर्मका संवर करे, यही तो प्रत्याख्यान है। और क्या तुम्हीं बताओ? सम्यग्दृष्टि पिछले कर्मोंकी चिन्ता नहीं करता बल्कि आगामी जो कर्म बन्धन वाले हैं, उनका संवर करता है जिससे उसके उस चालका बन्ध नहीं होता। रहे पिछले कर्म सो उनको ऐसे भोग लेता है जैसे कोई रोगी अपनी वेदनाके लानें कड़वी औषधिका सेवन करता है। तब विचारे रोगीको कड़वी औषधिसे प्रेम है या रोग निवृत्तिसे। ठीक यही हाल सम्यक्-दृष्टि का चारित्रमोहके उदयमें होता है। वह अशुभोपयोगको तो हेय समझता ही है और शुभोपयोग-पूजा दानादि—मे प्रवृत्ति करता है उसको भी वह मोक्ष-मार्गमें बाधक जानता है। वह विषयादिमे भी प्रवर्तन करता है पर अन्तरंगसे यही चाहता है कि कब इस उपद्रवसे छुट्टी मिले? जेलखाने मे जेलर हन्टर लिए खड़ा रहता है कैदीको सड़ाक सड़ाक मारता भी है और आज्ञा देता है कि 'चलो चक्की पीसो, बोझा उठाओ' आदि। तब वह कैदी लाचार हो उसी माफिक कार्य करता है परन्तु विचारो, अन्तरंगसे यही चाहता है कि हे भगवन! कब इस जेलखाने से निकल जाऊं। पर क्या करे, परवश दुःख भोगना पड़ता है। यही हाल सम्यग्दृष्टिका होता है। वह चरित्रमोह की जोरावरीसे अशक्य हुआ गृहस्थीमे अवश्य रहता है पर 'जैसे जलमें कमल-दल जलको परसै नाहिं'

वैसे उसका लक्ष्य केवल शुद्धोपयोग में ही रहता है वह बाह्यमें वैसा ही प्रवर्तन करता है जैसा मिथ्यादृष्टि, परन्तु दोनोंके अन्तरंग अभिप्राय प्रकाश और तमके समान सर्वथा भिन्न हैं। मिथ्यादृष्टि भी वही भोग भोगता है और सम्यक्त्वी भी। बाह्य में देखा तो दोनोंकी क्रिया समान है। पर मिथ्यात्वी रागमें मस्त हो झूम जाता है और सम्यक्त्वी उसी रागको हेय जानता है।

पंडित मूरख दो जने भोगत भोग समान।
पंडित समवृति ममत बिन, मूरख हरष अमान॥

यही कारण है कि मिथ्यादृष्टिके भोग बंधनके कारण हैं। और सम्यक्त्वीके निर्जराके लिये। क्यों, वही ज्ञान और वैराग्यकी प्रभुता के कारण।

सम्यक्त्वी के भोग निर्जरा हेत हैं।
मिथ्यातीके वही बंध-फल देत हैं॥

कोई पूछे सम्यक्त्वी जो भोग भोगता है क्या उसे बंध नहीं होता? इसका उत्तर कहते हैं कि बन्ध यों तो दशम गुणस्थान तक बतलाया है। पर मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषाय जो सम्यक्त्वका प्रतिपक्षी है उसका अभाव होनेसे अनंतसंसारकी अपेक्षा वह अबंध ही है। सम्यग्दृष्टिका ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है। वह पदार्थोंके स्वरूपको यथावत् जानने लग जाता है। 'सब पदार्थ अपने अपने स्वरूपमें परिणमन कर

रहे है। कोई पदार्थ किसी पदार्थके अधीन नहीं है, इसका उसे दृढ़ श्रद्धान हो जाता है। इसलिए वह किसी पदार्थसे रागद्वेष आदि नहीं करता उसकी दृष्टि बाह्य पदाथ मे जाती अवश्य है पर रत नहीं होती। यद्यपि औदयिक भावोंका होना दुर्निवार है, परन्तु जब उनके होते अन्तरङ्ग की स्निग्धताकी सहायता न मिले तब तक वह निर्विष सर्पके समान स्वकार्य करनेमे असमथ है। ऐस अनुपम एव अलौकिक या स्वात्मीक सुख का उस अनायासही अनुभव होने लगता है। यही कारण है कि सम्यक्त्वी बाह्य मे मिथ्यादृष्टि जैसा प्रवर्तन करता हुआ भी श्रद्धामे राग द्वेषादिके स्वामित्वका अभाव होने से अबंध है, और वही मिथ्यादृष्टी राग-द्वेषादिके स्वामित्वके सद्भावसे निरन्तर बधता ही रहता है। सो भइया! बस सब अन्तरगके अभिप्रायकी बात है। अभिप्राय निर्मल होना चाहिए। कोई भी कार्य करते समय अपने अभिप्रायको देखे कि उस समय कैसा अभिप्राय है? यदि वह अपने अभिप्रायों पर दृष्टिपात नहीं करता तो वह मनुष्य नहीं, पशु है। सबसे पहिले अपने अभिप्रायको निर्मल बनाए। अभिप्रायोंके निमल बनानेमें ही अपना पुरुषार्थ लगा देवे। जिन जीवोंके निरन्तर निर्मल परिणाम रहते है वे नियमसे सद्गतिके पात्र होते है। हा तो सम्यग्दृष्टि के परिणाम निरन्तर निर्मल होते जाते हैं। वह कभी अन्यायमें प्रवृत्ति नहीं करता

अच्छा बताओ, जिसकी उपर्युक्त जैसी भावना है, वह काहेको अन्याय करेगा। अरे, जिसने रागको हेय जान लिया वह क्या राग के लाने अन्याय करेगा? जो विषयों के त्यागनेका इच्छुक है वह क्या विषयोंके लाने दूसरोंकी गाठ काटेगा? कदापि नहीं वह गृहस्थीमे उदासीनतासे रहता हुआ जब चारित्रमोह गल जाता है तब तुरंत ही व्रतोंको धारण करने लगता है। भरतजी घर ही मे वैरागी थे। उनको अन्तर्मुहूर्तमें ही केवलज्ञान प्राप्त हो गया। इसका कारण यही कि इतना विभूति होते हुए भी वह अलिप्त थे। किसी पदार्थमे उनकी आसक्ति बुद्धि नहीं थी। पर देखो भगवानको वह यश प्राप्त नहीं। क्या वह वैरागी नहीं थे? अस्तु सम्यग्दृष्टिकी महिमा ही विलक्षण है, उसकी परिणति भइया वही जाने, अज्ञानियोंको उसका भेद मालूम नहीं होता।

एक मनुष्य था। उसका यह नियम था कि जो कोई उसके पास चीज लाए, वह ले लिया करता था। एक दिन एक मनुष्य दरिद्रता लाया। उसने नियमानुसार वह ले ली। जब दरिद्रता महारानीका पदार्पण हुआ तो सब धन स्वाभाविक ही जानेको ठहरा। यहां तक कि क्षमा, तप, यम, संयम सभी गुण जाने लगे। जब सत्य जाने लगा, तो उसने पकड़ लिया और एक तमाचा लगाया। वह कहने लगा तू कहा जाता है? सत्य बोला 'जहा सब जाते हैं वहा मैं भी जाता हूँ।' उसने कहा 'सब चले जाएं तो चले जाए' पर मैं तुझे नहीं जाने देता। तू क्यों जाता है? उसे पकड़ कर रख लिया। तब सत्यके

आ जानेसे सभी गुण अपने आप आगए। तो वही शुद्ध दृष्टि अपनी होनी चाहिये। बाह्य नानाप्रकार के आडम्बर किया करो, कुछ नहीं होता। गधी के सौ बच्चे होते हुए भी भार ढोती रहती है और सिंहनी के एक बच्चा होता हुआ भी 'निभय स्वपिति' निर्भय सोती रहती है।

एक मनुष्य था। वह हीरों की खानमें काम करता था। हां ऐसा होता था कि जो खानमे काम करता और उसके द्वारा जो हीरा प्राप्त होता वह सरकार ले लिया करती थी और फिर वह सरकार कुछ उसे दे दिया करती थी। वह आदमी था तो लखपति,पर दैवयोगसे गरीब हो गया था। एक दिन खदान मे काम करते करत कुछ नहीं मिला एक छोटी सिला मिल गई। वह उसे लेकर घर आया उसकी स्त्री उस पर ममाला पीस लिया करती थी। एक दिन एक जौहरीको उसने निमन्त्रण दिया। वह आया और शिला को देखकर बोला तुम इसके सौ रुपये ले लो। वह आदमी अपनी स्त्री से पूछने गया। स्त्री बोली अरे बेच कर क्या करोगे? मसाला पीसनेके काम आ जाती है। वह सौ रुपये देता है यह लो मुझसे १०००) रु० के गहने। इसे बेच लो। वह आदमी जौंहरीके पास आ कर बोला स्त्री नहीं बेचने देती। मैं क्या करूँ। तब जौंहरीने कहा यह लो २०००) रु० अच्छा ३०००) रु० ले लो। वह समझ गया और उसने नहीं दी।

उसने उसी समय सिलावटको बुलाकर उसके दो टुकड़ करवाए। टुकड़े करवाते ही हीरे निकल पडे। वह मालामाल हो गया। तो देखो यह आत्मा कर्मों के आवरण से ढकी पड़ी है। वह हीरेकी ज्योति के समान है। जब वह निरावरण हो जाती है तो अपना पूर्ण प्रकाश विकीर्ण करती हैं। हीरेकी ज्योति भी उसके सामने कुछ नहीं। उस आत्माका केवल ज्ञायक स्वभाव ही है। सम्यग्दृष्टि उसी ज्ञायक स्वभावको अपना कर कर्मोंके ठाटको कटाकसे उड़ाकर परात्मस्थिति तक क्रमश पहुँच जाता है और सुखार्णव मे डूबा हुआ भी अघाता नहीं।

अब कहते हैं कि एक टङ्कोत्कीर्ण शुद्ध आत्मा ही पद है, इसके बिना और सब अपद है। वह शुद्ध आत्मा कैसी है? ज्ञानमय एवं परमानन्द-स्वरूप है। ज्ञानके द्वारा ही ससार का व्यवहार होता है। ज्ञान न हो तो देख लो कुछ नहीं। यह वस्तु त्यागने योग्य है और यह ग्रहण करने योग्य है—इसकी व्यवस्था कराने वाला कौन? एक ज्ञान ही तो है।

वास्तव में अपना स्वरूप तो ज्ञाता-द्रष्टा है। केवल देखना एव जानना मात्र है। यदि, देखने मात्र ही से पाप होता है तो मै कहूँगा कि परमात्मा सबसे बड़ा पापी है, क्योंकि वह तो चराचर वस्तुओंको युगपत् देखता और जानता है। तो इससे सिद्ध हुआ कि देखना और जानना पाप नहीं, पाप तो अन्तरंग का विकार है। यदि स्त्रीके रूपको देख

लिया तो कोई हर्ज नहीं पर उसको देखकर राग करना यही पाप है। हे भइया! जो यह पर्देकी प्रथा चली, इसका मूल कारण यही कि लोगोंके हृदयमे विकार पैदा हो जाता था। इन लम्बे लम्बे घूंघटोंमे रक्खा क्या है? बताओ। आत्माका स्वरूप ही ज्ञाता दृष्टा है। अब बताओ बाबा जी, इन नेत्र इन्द्रियोंसे देखें, नहीं तो क्या फोड़ ले? नेत्र इन्द्रियोका काम ही पदार्थोंको दिखाना है। दर्शक बनकर दृष्टा बने रहो तो कुछ विशेष हानि नहीं किन्तु यदि उनमे मनोनीति कल्पना करना, राग करना सभी फसना हैं। राग से ही बन्ध है। परमात्मा का नाम जपे जाओ ॐ नमः वीतरागाय, ॐ नमः वीतरागाय, ॐ नमः वीतरागाय। क्या होता है? कोरा जाप मात्र जपने से उद्धार नहीं होता यदि जपने ही से उद्धार हो जाय तो क्यों नहीं होता? अरे, परमात्माने जो कार्य किए—रागको छोड़ा संसार को त्यागा, तुमभी वैसा ही करो। सीधी सादी सी तो बात है। दो पहलवान हैं। एक के तनका मर्दन है, दूसरे के नहीं। जब ये दोनों अखाडे मे लड़े तो एकको मिट्टी चिपक गई, दूसरे को नहीं। अतः राग की चिकनाहट ही बन्ध करने वाली है। देखो दो परमाणु मिले एक स्कंध हो गया। अकेला परमाणु कभी नहीं बधता तो आत्माका ज्ञान गुण बन्धका कारण नहीं। बन्ध का कारण उसमें रागादिक की चिकनाहट है।

संसार के सब पदार्थ जुदे जुदे हैं। कोई भी पदार्थ किसी

भी पदार्थ से बंधता नहीं है। इस शरीर को देखो! कितने ही स्कन्धोंसे बना है? जब स्कध जुदे जुदे परमाणु मात्र रह जाय तो सब स्वतन्त्र हैं, अनादिनिधन हैं। केवल अपने मानने मे ही भूल पड़ी हुई है। उस भूलको मिटा दो, चलो छुट्टी पाई और क्या धरा है? ज्ञान का काम तो केवल पदार्थों को जताना मात्र है। यदि उस ज्ञान मे इष्टानिष्ट कल्पना करो, तो बताओ किसका दोष है? शरीर तो आत्मा होता नहीं। जैसे दूरपर सीप पड़ी है और तुम उसे चादी मान लो तो क्या सीप चादी हो जायगी? वैसे ही शरीर कभी आत्मा होता नहीं। अपने विकल्प किया करो। क्या होता है? पदार्थ तो जैसे का तैसा ही है। केवल मानने मे ही गलती है कि इद मम' यह मेरी है। उस भूलको मिटादो। शरीरको शरीर और आत्मा को आत्मा जानो। यही ता भेद विज्ञान है। और क्या है? बताओ।

अत उस ज्ञायक स्वभावको वेदन करो सोना जड़ है वह अपने स्वरूपको नहीं जानता। लेकिन आत्मा शुद्ध चैतन्यधातु-मय पिंड है, वह उसको जानता है। अब उस ज्ञायक स्वभावमयी आत्मामे जैसे विशेष ज्ञान हुआ वह उसके लिए साधक है? या बाधक? देखिए जैसे सूर्य मेघ पटलों से आच्छादित था मेघ पटल जैसे दूर हुए वैसे वैसे उसकी ज्योति प्रगट होती

आगई। अब बतलाओ वह ज्योति जितनी प्रगट हुई वह उसके लिए साधक है? या बाधक है? दरिद्रीके पास पांच रुपये आए वह उसके लिए साधक हैं? या बाधक? हम आपसे पूछते हैं। अरे, साधक ही हैं। वैसे ही इस आत्माके जैसे जैसे ज्ञानावरण हटे, मति श्रुतादिविशेष प्रकट हुए, वह उसके लिए साधक ही हैं। अत. ज्ञानार्जनका निरतर प्रयास करते रहो।

मनुष्यको पदार्थोंके हटानेका प्रयत्न न करना चहिए बल्कि उनमे राग द्वेषादिक जो विकल्प उठते हैं, उन्हें दूर करनेका प्रयत्न करे। पदार्थोंके हटाने से होगा क्या? हम आप से पूछते हैं। मान लिया, स्त्री खराब होती है। हटाओ, उसे कब तक हटाओगे? नहीं हटी तो बेचैनी बढ़ गई। अतः स्त्रीको मत हटाओ उसके प्रति जो तुम्हारी राग बुद्धि लगी है उसे हटाने का प्रयत्न करो यदि राग बुद्धि हट गई तो फिर स्त्री को हटानेमें कोई बड़ी बात नहीं। पदार्थ किसीका बुरा भला नहीं करते। बुरा भलापन केवल हमारे अतरग परिणामोंपर निर्भर है। कोई पदार्थ अपने अनुकूल हुआ उससे राग कर लिया और यदि प्रतिकूल हुआ उससे द्वेष। किसीने अपना कहना मान लिया तो वाह वा, बड़ा अच्छा है और कदाचित् नहीं माना तो बड़ा बुरा है दृष्टिसे विचारो तो वह मनुष्य न तो बुरा है और न भला। वह तो केवल निमित्त मात्र है। निमित्त कभी अच्छे बुरे होते नहीं यह तो उस मनुष्यके आत्मा की दुर्बलता है जो अच्छे बुरे की

कल्पना करता है। कोई कहता है कि स्त्री मुझे नहीं छोड़ती, पुत्र मुझे नहीं छोड़ता, क्या करूं धन नहीं छोड़ने देता। अरे मूर्ख, यों क्यों नहीं कहता कि मेरे हृदयमें जो राग है वह नहीं छोड़ने देता। अपना दोषारोपण दूसरों पर करता है यदि इस रागको अपने हृदयसे निकाल दे तो देखे कौन तुझे नहीं छोडने देता? कौन तुझे विरक्त होनेसे रोकता है? अपने दोषको नहीं देखता। मैं रागी हूँ ऐसा अनुभव नहीं करता। यदि ऐसा ही हो जावे तो संसारसे पार होनेमें क्या देर लगे? यह पूर्व ही कह चुके हैं कि पदार्थ अपने अपने स्वरूप मे है। कोई पदार्थ किसी पदार्थके अधीन नहीं, केवल मोही जीव ही सशक्त हुआ उनमे इष्टानिष्टकी कल्पना कर अपने स्वरूपसे च्युत हो निरन्तर बंधता रहता है। अतः हमारी समझमें तो शान्तिका वैभव रागादिकों के अभावमे ही है।

ज्ञान की स्वच्छता

अब बतलाते हैं कि ज्ञान बिलकुल स्वच्छ-दर्पणवत् है। जैसे दर्पणमें स्वभावसे ही घटपटादि प्रकाशित होते हैं वैसे ही ज्ञानमें सहज ही सम्पूर्ण ज्ञेय झलकते हैं। अब दर्पणमें घटपटादि प्रतिबिम्बित होते अवश्य हैं, किन्तु घटपटादि उसमें प्रवेश कर जाते हैं? नहीं, घटपटादि अपनी जगह पर हैं, दर्पण अपने स्वरूपमे है। केवल दर्पणका परिणमन उनके आकार हो गया है। तुमने दर्पणमें अपना मुंह देखा तो क्या तुम दर्पणमें

चले गये ? यदि दर्पणमे चले गए तो यहा सूरत पर जो कालिमा लगी है उसको यहा दर्पणमे क्यों नहीं मिटाते ? अपनी सूरत पर ही कालिमा को मिटाते हो। इससे सिद्ध हुआ कि दर्पण अपनी जगह पर है, हम अपनी जगह पर है। कोई भी पदाथ किसी भी पदार्थमें प्रवेश नहीं करता। यह सिद्धात है। ज्ञानका सहज स्वभाव ही स्व-पर प्रकाशक है। जैसे दीपक अपने को तथा परको दोनोको दिखाता है। स्वभावमे तर्क नहीं चला करता। ज्ञान आत्माका एक विशेष गुण है जैसे अग्नि और ऊष्ण दोनोंका अभेदपना है। एक आम है उसमे रूप, रस, गंध और स्पर्श ही तो हैं। कहा भी है स्पर्शरसगन्धवर्णवन्त पुद्गला' इन चारोंका समुदायही तो आम है। अब किसी महान वैज्ञानिक को ले आइए और उससे कहो कि हमें इसमें से रूप रसको निकाल दो क्या वह निकाल सकता है ? परन्तु ज्ञानमे वह शक्ति है कि इन्द्रियोद्वारा पृथक्करण करके रूपको जाने, रस को जाने और स्पर्शको जाने। ज्ञानमे अचिन्त्य शक्ति है। और वास्तवमे देखो तो ज्ञानके सिवाय कुछ है भी नहीं, मिश्री मीठी होती है, यह किसने जाना ? केवल ज्ञानने। ज्ञानने आत्माको बतला दिया है कि मिश्री मीठी होती है। अब देखो ज्ञानहीका तो परिणमन हुआ पर हम लोग ज्ञानको तो देखते नहीं और पदार्थों में सुख मानते हैं। ज्ञेयमिश्रित ज्ञानका अनुभवन करते है कोई कहता है कि रूखी रोटी खानेमें अच्छी नहीं लगती। कैसे

अच्छी लगे ? अरे मूर्ख, अनादि कालसे मिश्रित पदार्थोंका स्वाद लेता आ रहा है। अच्छी लगे तो कैसे लगे ? दालमें नमक भी है, मिर्ची भी है, खटाई भी है और घी भी डला हुआ है। पर मूर्ख प्राणी तीनोंका मिश्रितस्वाद ले रहा है और कहता है बड़ी बढ़िया बनी है। अब देखो नमक अपना स्वाद बतला रहा है, मिर्ची अपना स्वाद बतला रही है और इसी प्रकार घी अपना स्वाद बतला रहा है और जिसके द्वारा यह जान रहा है उसज्ञान-का अनुभव नहीं करता। ज्ञेयानुभूतिमे ही सुख मानता है। यही अनादि कालसे अज्ञानकी भूल पड़ी है। ज्ञेयानुभूतिमे ही मगन हो रहा है, ज्ञानानुभूतिका कुछ भी पता नहीं। पर सम्यग्ज्ञानी ज्ञान और ज्ञेय का पृथक्करण करके ज्ञान को जो स्वाश्रित है उसे अपना समझकर ज्ञेय जो पराश्रित है उसका त्याग कर देता है। वैसे देखो तो ज्ञेय ज्ञान मे कुछ घुस नहीं जाता। ऊपर ही ऊपर लौटता रहता है पर मोही जीव उसे अपना मान बैठते हैं। पर सम्यग्ज्ञानी अपनी भेद-विज्ञानकी शक्तिसे निरन्तर शुद्ध ज्ञानका आस्वादन ही करता रहा है। वह ज्ञान किसी परपदार्थका लेश मात्र भी प्रवेश नहीं चाहता। ज्ञानी जानता है मेरी आत्मामें ज्ञान लबालब भरा है। इस प्रकार वह ज्ञानमे ही उपादेय बुद्धि रखता है पर बाबाजी! स्वाश्रित और पराश्रित ज्ञान मे बड़ा अन्तर है। हमारा ज्ञान कौन काम का ? अभी आंखों बन्द करलो बताओ क्या दीखता है ? अच्छा, आखें भी खुलीं हैं पर सूर्य

अस्त हो जाय तब अन्धकारमें क्या दिखेगा ? बताओ।

अत. इन्द्रियजन्य ज्ञान किसी कामका नहीं। ज्ञान तो स्वाश्रित केवल ज्ञान है जिसकी अखण्ड ज्योति निरन्तर प्रज्वलित होती रहती है। हम ऐसी नित्यानन्दमयी ज्ञान-आत्मा को विस्मरण कर परपदार्थोंके विषयों मे सुख मानते है। उन्हीं सुखों की प्राप्तिमे सारी शक्ति लगा देते है। पर उनमे सुख है कहां ? परपदार्थक आश्रित जितनाभी सुख है वह सब आकलतामय है। मनमें भोगोंकी आकुलताहुई तो विषयोंमे प्रवर्तन करने लग गए रूपको देखनेकी आकुलता मची तो सिनेमा चले गए। कानसे रेडियोके गाने सुन लिए। रसनासे व्यञ्जनादिके स्वाद ले लिए। यह रूप, रस, गध और स्पर्श के सिवाय और विषय हैं क्या चीज ? हम पुन. पुन. वही स्वाद ले लिया करते है जैसे कोल्हू का बैल जहा देखो तो वही। और देखो, इन इन्द्रियजन्य विषयों का कितना देरका सुख है ? ओसकी बूंदके समान। अतः इन्द्रियाधीन सुख वास्तविक सुख नहीं। पर होते है बाबाजी बड़े प्रबल। इनका जीतना कोई सामान्य बात नहीं है।

इन्द्रिय-विषयों की प्रभुता

एक मनुष्य था भइया। उसने एक स्थान पर यह चरण लिखा·—

'बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वासमपि कर्षति'

अर्थात् इन्द्रियोंके विषय बडे बलवान होते हैं, विद्वानों तक को आकर्षित कर लेते हैं। उसी स्थान पर एक साधु आया और उसने प्रथम चरण पढकर दूसरा चरण लिख दिया कि ज्ञानीको इन्द्रिय-विषय आकर्षित नहीं करते। जब उस मनुष्यने पढ़ा तो उसने उस साधुकी परीक्षा करनी चाही। एक बहुरूपिणी विद्या सिद्ध की और खूबसूरत स्त्री-वेष बनाया -वही नैन मटकाना कटाक्ष करना, हाव-भाव बतलाना और सब संगीत-साज बाज लेकर उसी वनमें पहुँची, जहा वह साधु रहता था। साधुने कहा 'यहाँ क्यों आई है ? हम मनुष्यों तकको अपने पास नहीं फटकने देते, तू तो स्त्री है। जाओ यहासे चली जाओ।' तब वह स्त्री बोली 'महाराज मैं एक अबला हूँ। संध्या हो गई है, रात्रि होने वाली है। आगे सिंह व्याघ्रादि जानवरों का भी डर है। मैं तो एक तरफ पड़ी रहूँगी।' उस साधुने बहुत हठ किया, पर वह न मानी। अन्तमें वह साधु अपनी कुटियामें चला गया। बाहरसे उस स्त्री ने सकल लगादी। जब अर्ध रात्रिका समय हुआ और जो उसने मिष्ट स्वरोंसे आलाप भरा तो उसी समय साधुके काम वासना जागृत हो गई। स्त्रीका रूप और हास विलास तो पहिले देखा ही था और अर्ध रात्रिका समय भी सुहावना था। उसने तुरन्त दरवाजे के किवाड़ खटखटाए। स्त्री बोली क्या बात है ? साधुने कहा 'अरे संकल तो खोल।' उसने नहीं खोली और कहा कि पहले बात बताओ। साधु बोला 'जरा पेशाब

लगो है'। स्त्री बाली ऊँहूँ, वहीं किमी वतन में करलो। परन्तु साधुके निरन्तर कामज्वर बढ़ रहा था, अन्त मे छप्पर फाड़के निकल आया। उसी समय तुरन्त उस मनुष्यने वास्तविक स्वरूप प्रकट कर लिया और कहा—'क्या वह चरण सत्य नहीं है? 'कि इन्द्रिय-ग्राम ज्ञानी को आकर्षित नहीं करते।' साधु बड़ा लज्जित हुआ और बोला इस चरणको स्वर्णाक्षरोंमे लिखदो पचेन्द्रियके विषय बड़े बड़े विद्वानों को फसा लेते है पर वीतरागियों को नहीं। पर विचारो तो, इन्द्रियाधीन सुख शाश्वत नहीं, विनाशीक-है सुखाभास है। सहज शाश्वत सुख तो केवल आत्माके अनुभवमे ही है। जिस प्रकार विषयादि सुख आत्माक नहीं उसीप्रकार क्रोधादि विभाव-परिणामभी आत्माके नहीं हैं। यदि आत्माके होते तो काहे को पीछे से हाथ जोड़ते, भूल होगई, माफ करो। इससे साबित होता है कि क्रोधादि विभाव भाव भी आत्मा के नहीं हैं। औदयिक है, मिटने वाली चीज है। पर क्षमा आत्माकी चीज है, वह निरन्तर बनी रहती है। अत आत्माको निर्मल बनाओ। अभिप्रायको साफ रखो। यदि किसीके थप्पड़ मार दे तो बुरा लग जाय और कहीं पैर दबाने लगजाय तो प्रसन्न होजाय तो सब अभिप्रायके परिणामों की कीमत हैं। गतियों में गमन भी परिणामानुसार है।

एक मुनिराज शिलापर ध्यान लगाए बैठे थे। उसी समय सिंह खाने को दौड़ा। उधर से शूकर भी मुनिराज के बचाने के

अभिप्रायसे दौड़ा। उनमे भयंकर युद्ध हुआ। दोनों प्राणान्त हुए। एक स्वर्ग गया और दूसरा नरक पहुँचा। परिणामोंकी निर्मलताका ही तो यह फल है। शुद्ध परिणाम ही मोक्षमे साधक हैं, इसमे सदेह नहीं।

शुद्ध चेतना के अवलम्बन

अब कहते हैं कि मनुष्य को एक शुद्ध चेतना का ही आलम्बन है। वह टकोत्कीर्ण-टाकी से उत्कीर्ण फूलके समान एक शुद्ध भाव है। वह निर्विकार एवं निर्विकल्प एक शुद्ध ज्ञानघन है। उसमे किसी भी प्रकारकी सकरता नही। बाह्यमे अवश्य दोनों (पुद्गल और जीव) का एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध होरहा है पर किसीका एक प्रदेश भी किसीमे प्रविष्ट नहीं होता। जैसे चार तोला सोना है और उसमें चार तोले चादी मिलादी, इस तरह वह आठ तोले की चीज बन गई। उस सर्राफके पास बेचने ले जाओ, तो क्या वह तुम्हे आठ तोलेके दाम दे देगा? नहीं। वह तो चार तोले ही की कीमत करेगा, परन्तु जो नहीं जानने वाले हैं उनको वह आठ तोले ही दीखती है। वैसेही आत्मा और पुद्गल के एकमेक होनेसे ज्ञानी को ता एक शुद्ध आत्मा ही है अज्ञानीको वह मिश्रित है। अब देखो, बाह्य में सोना और चादी बिल्कुल मिली हुई दिखती है पर विचारो सोना अलग है और चादी अलग है। सोनेका परिणमन सोने मे हो रहा है और चादीका परिणमन चादीमे। सोनेका एक

चावल चांदी मे नहीं जाता और चादीका एक चावल सोनेमे नहीं आता । वैसे ही आत्मा अलग है और पुद्गल अलग है। आत्माका परिणमन आत्मामे हो रहा है और पुद्गल का परिणमन पुद्गलमे। आत्माका चतुष्टय जुदा है, पुद्गलका चतुष्टय जुदा है। आत्मा की चेतनता पुद्गलमें नहीं जाती और पुद्गलकी जड़ता आत्मामें नहीं आती। पर व्यवहारमें देखलो एक सी दिखती है। और जब उस सोने चादीको तेजाबमे डाल दिया तो सोना सोना रह जाता है, चांदी चादी रह जाती है। वैसा ही तत्वदृष्टिसे विचारो तो आत्मा आत्मा है और पुद्गल पुद्गल ही है। कोईका किसीसे कुछ सम्बन्ध नहीं। चेतन जड़का क्या काम ? अब देखिये शरीर पर कपड़ा पहिना तो क्या कपड़ा शरीरमें प्रवेश कर गया ? वह जीर्ण वस्त्रको उतार कर दूसरा नवीन वस्त्र पहिन लिया। वैसे ही आत्मा ८४ लाख योनियोंमे पर्याय मात्र बदल लेती है। कोई कहे कि इस तरह तो आत्मा त्रिकाल शुद्ध हुई। उसमे कुछ बिगाड़ भला होता नहीं, चाहे कुछ भी करो। पर ऐसा नहीं। नय-प्रमाणसे पदार्थोंके स्वरूप को समझनेका यत्न करो। द्रव्य-दृष्टिसे तो वह त्रिकाल सर्वथा शुद्ध है पर वर्तमान पर्याय उसकी अशुद्धही माननी पड़ेगी। अन्यथा ! ससार किसका ?

ये भाइयो ! जो तुम पूजा करते हो तो भगवान् से कहते हो न ?

तव पादौ मम हृदये मम हृदय तव पदद्वये लीन।
तिष्ठतु जिनेन्द्र तावद् यावन्निर्वाणसम्प्राप्तिः ॥

हे भगवन्! तेरे चरण मेरे हृदयमे निवास करें और मेरा हृदय तेरे चरण-कमलमे। जब तक निर्वाण की प्राप्ति न हो। यदि आज ही निर्वाण हो जाय तो नहीं हो। और कहा है:—

शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुति. सगति सर्वदार्यै·।
सद्वृत्ताना गुणगणकथा दोषवादे च मौनम् ॥
सर्वस्यापि प्रियहितवचो भावना चात्मतत्वे।
सपद्यन्ता मम भवभवे यावदेतेऽपवर्गः ॥

हे भगवन! अपवर्ग कहिए मोक्षको जब तक प्राप्त न करू तबतक शास्त्रका अभ्यास, जिनेन्द्रदेवकी सेवा और अच्छी सगति मिले। सद्वृत्ति है जिनकी ऐसे पुरुषोंका गुणगान करूं, पराए दोषोंके कहने मे मौन होजाऊ। सुन्दर हित मित वचन बोलू तो अभी तक न, जब तक मोक्ष न होजाय। इससे मालूम पड़ता है कि उस शुद्धोपयोगमे शुभोपयोगकी भी आवश्यकता नहीं है। अरे, तभीतक सीढ़ी चढू जब तक शिखर पर न पहुचू। शिखर पर पहुँचगए तो फिर सीढियों की क्या आवश्यकता? बताओ। तो सम्यग्दृष्टिका लक्ष्य केवल शुभोपयोगमे ही रहताहै। वह पूजा दानादि में प्रवर्तन करता है अशुभोपयोगकी निवृत्तिके लिए। उपयोग तो कहीं जायगा ही। पर क्या करे जब तक

शुद्धोपयोगको प्राप्ति नहीं हुई तब तक शुभोपयोग रूपही प्रवर्तता है। यदि आज ही शुद्धोपयोग की प्राप्ति हो जाय तो आज ही त्याग दे। तो भइया! शुभोपयोग और अशुभोपयाग दोनों हेय है। इसका यह मतलब नहीं कि हम शुभोपयोग नकरें। शुभोपयोग करो-इसका कौन निषेध करता है? शुभोपयोगको त्यागनेसे शुद्धोपयोग नहीं होता, किन्तु शुभोपयोगमे जो मोक्षमार्गकी कल्पना कर रक्खी है, उसके त्याग और राग द्वेष की निवृत्तिस शुद्धोपयोग होता है और यही परिणाम मोक्ष-मार्ग का साधक है। पर कुछ लोग अपनेको शुद्ध-बुद्ध और निरजन समझ कर स्वेच्छाचारी होजाते हैं और शुभकी जगह अशुभमे प्रवर्तन करने लग जाते है और फिर अपने को सम्यग्ज्ञानी मानते हैं, भइया यह बात तो हमारी समझ मे नहीं आती। तत्त्वदृष्टिसे विचारो क्या वह सम्यग्ज्ञानी होजायगा? जो ज्ञानी पुण्यको भी हेय समझे क्या वह पापमें प्रवर्तन करेगा? कदापि नहीं। टोडरमल्ल-जी साहबने अपने मोक्ष मार्ग-प्रकाशमे एक स्थानपर लिखा है —

सम्यग्दृष्टि स्वयमयमहं जातु बन्धो न मे स्या-
दित्युत्तानोत्पलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु ॥
आलम्बन्ता समितिपरता ते यतोऽद्यापि पापा।
आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वशून्या ॥

'स्वयमेव यह मैं सम्यग्दृष्टि हूं, मेरे कदाचित् कर्मबंध नाहीं एसे ऊचा फुलाया है मुख जिनने ऐसे रागी वैराग्य

शक्ति रहित भी आचारण करे है, तो करो, बहुरि पच समितिकी सावधानीको अवलबे हैं, तो अवलंबो, ज्ञानशक्ति बिना अजहूं पापी हो है। ए दोऊ आत्मा अनात्मा ज्ञानरहितपनातै सम्यक्त्वे रहित ही है। एक जगह लिखा है —

तिलतैलमेव मिष्ट येन न दृष्ट घृत क्वापि।

अविदितपरमानन्दो जनो वदति विषय एव रमणीय ॥

हम लोगोंने तेल ही तेल खाया है, घी नहीं। इसलिये घी के स्वादको जानते ही नहीं। वैसे ही शुद्धोपयोगके बिना जो शुभोपयोग के द्वारा प्राप्त इन्द्रियाधीन सुख है उसको ही हमने वास्तविक सुख समझ रक्खा है। ऊंटको कड़वा नीमही अच्छा लगता है, वह गन्ने को बुरा समझता है। 'जिन नहीं चाखी मिसरी उनको कचरा मिट्ठो'। अत शुभोपयाग मोक्ष का कारण नहीं। मोक्षका कारण केवल शुद्धोपयोगही है नौकाको मत त्यागो देखें कैसे पार पहुँच जाओगे? पार पहुँचनेके लिये नौका त्यागनी ही पड़ेगी। वैसे ही शुभोपयोगमे रहकर ही यदि मुक्ति चाहो तो कदापि प्राप्त नहीं हो सकती। मुक्ति प्राप्तिके लिये शुद्धोपयोगका आश्रय ग्रहण करना होगा। इसका दृष्टान्त ऐसा है जैसे कोई मनुष्य शिखरजीकी बन्दनाके वास्ते गया। चलत चलते वृक्षकी छाया मिल गई। वहा उसने किंचित् विश्राम किया। वहा से चलकर वह अपने अभीष्ट स्थान पर पहुच गया। फिर वह कहता है कि मुझे छायाने यहा पहुँचा दिया अरे, छायाने वहा

नहीं पहुँचाया, पहुँचाया तो उसकी चालने। छाया केवल निमित्तमात्र हुई। वैसेही शुभोपयोगने मोक्ष नहीं पहुँचाया। पहुँचाया तो शुद्धोपयोगने, पर व्यवहारसे कहते हैं कि शुभोपयोगने मोक्ष पहुँचाया। पर तत्त्वदृष्टिसे विचारो तो शुभोपयोग संसारहीका कारण है, क्योंकि उसमे रागका अंश मिला हुआ है।

सम्यक्त्वी भगवान्के दर्शन करता है पर उस मूर्तिमें भी वह अपने शुद्ध स्वरूपकी ही झलक पाता है। हम भगवान्के दर्शन करते है तो हमे उनके दर्शनज्ञान और चारित्र हीतो रुचते हैं और है क्या? क्योंकि जो जैसा अर्थ चाहता है वह उसी अर्थीके पास जाता है। जो धनका अर्थी होगा वह धनाढ्योंकी सेवा करेगा। वह हम सरीखोंके पास क्यों आवेगा? और जो मोक्षार्थी होगा वह भगवानकी सेवा करेगा। हमे भगवान्के दर्शन ज्ञान और चारित्र रुचते हैं, तब तो ही हम उनके पास जाते हैं।

कहनेका तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्वीका लक्ष्य केवल शुद्धोपयोग पर रहता है लेकिन फिलहाल वह शुद्धोपयोगपर चढ़नेके लिये असमर्थ है इसलिये शुभोपयोगरूप प्रवर्तता है पर अन्तरंगमे जानता है कि यह भी मेरी शान्त-मार्गमें बाधा उपस्थित करने वाला है। अब शुभोपयोगसे स्वर्गादिकी प्राप्ति हो जाय तो इसमें उसके लक्ष्यका तो दोष नहीं है।

इसलिए, मुनि तपश्चरणादिक करते हैं जिससे उन्हें स्वर्गादिक मिल जाता है। पर तपका कार्य स्वर्गकी विभूति दिलाना तो नहीं है। उसका काम तो मुक्तिरमासे मिलाना है। चूंकि उस तप से वह मुनि शुद्धोपयोगकी भूमि को स्पर्श नहीं करनेका इसलिए शुभोपयोग द्वारा स्वर्गादिककीही प्राप्ति हो हो गई। जैसे किसान का लक्ष्य तो बीज बोनेमें धान्य उत्पन्न करना है पर उससे घास फूसादिकी प्राप्ति स्वयमेव हो जाती है। एतावत शुभोपयोग होनेसे स्वर्गादिक मिल जाता है। अरे भइया! स्वर्गोंमें भी क्या धरा है? तनिक वहां ज्यादा भोग हैं। कल्पवृक्षों की छाया है। यहां ईंट चूनेके मकान हैं वहां हीरे-कंचनके प्रासाद हैं। और क्या? ज्यादासे ज्यादा वहां अप्सराओंके आलिंगनका सुखहै, सो भी क्षणिक और अन्तत. दुखदायी। लेकिन अनुपम, अलौकिक, अतीन्द्रिय सच्चा शाश्वत सुख तो सिवाय अपनी आत्माके और कहीं नहीं है, यह निश्चय है।

अत. हमको प्रथम अपनी श्रद्धा ठीक करनी चाहिए। सम्यक्त्वीकी श्रद्धाकी ही तो महिमा है। वह जान जाता है कि मोक्षका मार्ग यही है। उसकी गाड़ी लाइनपर आजाती है। तो हमकोभी उस तरफ लक्ष्य रखना चाहिए। अब देखिए हम रुपया कमानेमें कितना उद्योग करते हैं। कठिनसे कठिन सवालोंकी गुत्थियाँ भी सुलझा लेते हैं क्योंकि उस तरफ हमारा लक्ष्य है।

प्राय: लोग सोचते हैं—क्या करें, मोक्षमार्ग तलवारकी धार है मुनिव्रत पालना बड़ा कठिन है। परिषह सहना बहुत मुश्किल है। तो हम तिलको ताड़ तो पहिले ही बना देते हैं। मोक्ष कैसे पहुँचेंगे ? अरे भाई, मोक्षमार्गके सन्मुख तो होओ। उस तरफ तनिक दृष्टिपात तो करो। एकाध व्रतके पालनेका अभ्यास तो करो। जैसे कोई व्यक्ति जहाजपर चढकर बम्बई पहुँचता है, कोई रेलमे बैठकर पहुचता है कोई घोड़ा-गाड़ीमें पहुँचता है और जिस पर घोड़ा गाड़ी नहीं है तो वह पैदल ही पहुँचता है। उसी तरह मोक्ष-मार्गके सन्मुख होना चाहिए फिर तो वहा तक पहुँचनेमें कोई बाधा नहीं। कभी न कभी वहा तक पहुँच ही जाएगे, पर उस तरफ दृष्टि रखनी चाहिए।

सम्यग्दृष्टिकी उस तरफ उत्कट अभिलाषा रहती है। उसकी श्रद्धा पूर्णरूपेण मोक्षकी ओर सन्मुख हो जाती है। अब चारित्र मोह है सो क्रमश धीरे धीरे गल जाता है। वह उतना घातक नहीं जितना दर्शन-मोह। जब फोडे में से कीली निकल गई तो वह घाव धीरे धीरे भर ही जाता है। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्यको प्रथम अपनी श्रद्धाको सुधारनेका पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए। अब देखिए, जब लड़की विदा होती है तब वह रोती है, चिल्लातीभी है बाह्यमे सब क्रियाएं करती है पर जानती हैकि मेरा

तो पति गृह है। माता भाई कुटुम्बका कोई व्यक्ति मेरा नहीं। मनमें निश्चयसे जानती है कि मुझे तो वहीं पहुँचना है। वैसे ही सम्यग्दृष्टीको केवल वही रटना लगी रहती है।

'आत्मानुशासन' में गुणभद्राचार्यने लिखा है कि एक शिष्य ने आचार्य महाराजसे पूछा पुण्य-बंध नरकका कारण है। यह सूधी सूधी बात क्यों नहीं कहते ? क्योंकि पुण्यसे विषय सामग्री जुटती है और विषयों के मिलनेसे भोगनेकी इच्छा होती है भोगनेसे अशुभ कर्म-बन्ध पडता है और इस तरह नरक जाना होता है। आचार्य कहते हैं कि यह बात नहीं, पुण्यनरकका कारण नहीं है। पुण्यका तो काम विषय सामग्री जुटा देना मात्र है परन्तु तुम्हारी पदार्थके भोगनेमे जो आसक्ति है वह नरकका कारण है न कि पुण्य। पदार्थोंके भोगनेमें तो कोई आपत्ति नहीं पर उसमे लिप्त मत होजाओ। अत्यासक्ति ही नरककी जननी है। 'आश्रयेत मध्यमा वृत्तिमति सर्वत्र वर्जयेत' पं० आशाधरजीने एक स्थान पर लिखा है कि विषयको अन्नकी तरह सेवन करे। यदि अन्न ज्यादा खा लिया जाय तो अजीर्ण हो जाय उसी तरह विषयोंको अधिक सेवनकरो तो मरो तपेदिक मे। बुलाओ डाक्टरको। देखो आचार है उसमे 'अति' लगादो तो अत्याचार हो जाय।

एक स्त्री थी। उसके बहुत लम्बे बाल होगए। पर वह प्रमादिनी थी, तो कभी उनको साफ न करे। साफ करे तो अच्छे लगें। उसके पतिने उससे कहा कि इनको साफ कर लिया कर।

पर हठी होनेकी वजहसे कहना नहीं माना और अन्ततोगत्वा उसके जूं पड़ गईं। तब दुखी देखकर उसके पतिने कहा क्या है? बाल कटवा डाल। उसने वैसा ही किया और वह बदसूरत लगने लगी। एक दूसरी स्त्रीने उससे पूछा— सखी! क्यों बाल कटवा दिए? वह स्त्री बोली—जूं पड़ गईं थीं। तो वह बोली—अरी मूर्खनी, उन्हें धोती क्यों नहीं थी? अगर धो लेती तो काहेको कटानेकी नौबत आती? इस तरह यदि भोगोंमे अत्यासक्त नहीं होते तो भइया! काहेको नरक जाते। इससे सिद्ध होता है कि पदार्थों मे अति आसक्ति ही दुर्गतिका कारण है।

तुम्हारी जिन पदार्थोंमें रुचि है तभी तो तुम ग्रहण करते हो। और परिग्रह क्या है?'' मूर्छा परिग्रहः। मूर्छा ही का नाम परिग्रह है। तुम्हारी भोजनमें रुचि है तभी तो खाते हो। माको बच्चेसे मूर्छा है इसलिए तो लालन-पालन होता है। इस लँगोटीसे हमें मूर्छा है तभी तो रखे हैं तुम्हें घर-गृहस्थी से मूर्छा है तभी तो फंसे हो। यदि मूर्छा नहीं है तो फिर होजाओ मुनि। एक मुनि है, उन्हें मूर्छा नहीं है तो बताओ कौन लंगोटी सभाले? संभालने वाली चीज़ थी वह तोमिटगई। और तो और, एक लंगोटी रांड ऐसी है जो मोक्ष नहीं होने देती। सोलह स्वर्ग से आगे जाने नहीं देती।

एक मनुष्यने किसी को कुछ रुपये देने का वायदा किया और उसने कहा घर चलकर दूंगा। मार्गमें आते आते बीचमें मुनि का समागम होगया और उपदेश पाते ही वह मुनि होगया। अब बताओ रुपया कौन देवे ? अरे देने वाली चीज थी वह तो मिट गई। अत वह चीज जब तक बनी है तभी तक ससार है। जहा तक बने परपदार्थोंसे मूर्छा हटानेका प्रयत्न करो। जितनी पदार्थों से मूर्छा हटेगी उतनी ही स्वात्मा की ओर प्रवृत्ति होगी। लोग कहते हैं कि जितने यह धनाढ्य पुरुष हैं, उन्हें बडा सुख होगा मैं तो कहूँगा कि उन्हें हमसे भी ज्यादा दु ख है। जिन पर परिग्रह का भूत सवार है उन्हे तुम चाहो सुखी होंगे, तीन काल में भी नहीं। मनुष्य के जितना जितना परिग्रह बढ़ता जायगा उसका उतना दुख भी दिन दूना और रात चौगुना बढ़ता जायगा और जितना कम होगा उतना ही सुख झलकेगा।

एक मनुष्यके पास गीता थी। उसके एकमात्र यही परिग्रह था। वह उसको रोज कपडेमे लपेट कर अलमारी मे रख देता था अचानक एक मूषक आता और उस कपडेको कुतर जाता। वह मनुष्य बड़ा परेशान था। उसने सोचा यदि चूहेके लिए एक बिल्ली रख ली जाय तो बड़ा अच्छा हो। अत: उसने एक बिल्ली पाल ली। अब बिल्ली के लिए दूध चाहिए तो एक गाय मोल

लेनी पड़ी । अब उस गायकी रखवालीके लिए कोई चाहिए, नहीं तो पठनपाठन कैसे हो ? अतः उसकी रखवालीके लिए एक दासी रक्खी । दासीसे उसका सम्बन्ध होगया। बाल बच्चे होगये। अब वह एक बच्चेको पीठ पर बिठाए और दूसरेको गोदीमें लिए इसी आर्त रौद्र ध्यान मे फस गया पूजा पाठ सब विस्मरण कर दिया। कहने का तात्पर्य्य यह है कि एक परिग्रहकी लालसा करनेसे देखलो वह पूरा गृहस्थी हो गया। पूजा-पाठ जो करता था वह सब जाता रहा प्रत्युत खोटे ध्यानमे फसकर दुःखी हो गया। अत. यदि मोक्षकी ओर रुचि है, सुखको कामना है तो परिग्रह को कम करनेका प्रयत्न करे। इच्छाओं पर कन्टोल रखे एक मनुष्य ने भूखेको रोटी दान किया। नंगेको कपड़ा दिया. निराश्रयों को आश्रय दिया और उसे सुख हुआ। वह सुख उसे कहां से हुआ ? सुख तो उसे अवश्य हुआ। उस सुखका वह अनुभव भी कर रहा है। तो वह सुख उसका अन्तरग से उमड़ा उसने बिना किसीस्वार्थ के परोपकार बुद्धिसे ऐसा किया जिससे उसे इच्छाओं कषायों की मन्दता करनी पड़ी इसलिए उसे सुख हुआ। तो पता चला कि जब इच्छाओं कषायों कीमदता में उसे सुख मिला तो जिनके इच्छाओं कषायों का पूर्ण अभाव होजाय और यदि उसे विशेष सुख मिले तो इसमें आश्चयकी कौनसी बड़ी बात है ? जितनी मनुष्य के पास इच्छाएं हैं उसके लिए उतने ही रोग हैं। एक इच्छाकी पूर्ति होगई तो वह रोग

कुछ देरके लिए शान्त होगया और उसने अपनेको सुखी मान लिया। पर परमार्थ दृष्टिस विचारो ! क्या वह सुखी होगया? आज सुबह रोटी खाई, शाम को फिर खानेकी जरूरत पड़गई। इससे मालुम होता है कि इच्छाओं में सुख नहीं है।

एक मनुष्यके आलूका त्याग था। दूसरे मनुष्य ने उससे कहा—अबे, क्यों त्यागता है ? कहा त्यागीमे भी सुख मिला है ? वह मनुष्य तो चुप ही रहा। इतने ही मे एक और आदमी आगया। उसने कहा—भाई ! त्यागमे क्यों सुख नहीं है ? उस मनुष्य ने जवाब दिया कि 'परमात्माने जितने भी पदार्थ संसारमें रचे हैं, वह भोगनेके लिएही है। भोग विलास, जब तक स्वास।' उन दोनों मे खूब वाद विवाद हुआ। अन्ततोगत्वा यह निर्णय हुआ कि इच्छाओं मे ही दुख है। जितनी जिसके पास इच्छाएँ हैं उतना ही उसे दुख है। उस आदमीने कहा अच्छा यदि एक इच्छा किसीके कम होजाय तो उसे सुख होगा कि नहीं। उसने कहा हा, कुछ सुख होगा। फिर उसने कहा यदि किसीके एक मात्र लंगोटीकी इच्छा रह जाय तो वह उससे ज्यादा सुखी है कि नहीं ? उसने जवाब दिया वह उससे भी ज्यादा सुखी है। फिर उसने कहा यदि किसी के पास कुछ भी इच्छा न हो, दिगम्बर हो जाय, वह कितना सुखी है। तो वह बोला

कि वह सबसे ज्यादा सुखी है। बस, परिग्रह त्याग का मतलब ही यह होता है कि इच्छाओं को कम रखना। संसारमें ही देखलो, राजाकी अपेक्षा एक सन्त ज्यादा सुखी है। अतः हमारी समझ मे तो जिसने अपनी इच्छाओं को वश कर लिया वही सुखी है। विशेष तो कुछ हम जानते नहीं।

उदयशंकर था। वह स्त्रीमें पूर्ण आसक्त था। एक दिन उसका साला स्त्रीको लेनेके वास्ते आया। जब वह मायकको जान लगी तब आप भी उसके साथ हो लिया। मार्गमे चलते चलते एक मुनिराज मिले जो एक शिला पर शान्ति मुद्रासे ध्यान लगाए तिष्ठे थे। मुनिको देखते ही उसका हृदय शान्त होगया। और उनके पास पहुंचकर वन्दनामे ही मगन हो गया। उधरसे उसका साला यह सब देख रहा था। वह पास आकर बोला क्या तुम मुनि होगए? उसन कहा—यदि हम मुनि हो जावें तो तुम भी मुनि हो जावोगे। सालेन सोचा जो पुरुष स्त्रीका इतना लपटी है वह क्या मुनि होगा? वह बोला अच्छा तुम हो जाओ तो मै भी हो जाता हूं। ऐसा कहना था कि झट उसने कपड़े उतार कर फेक दिये और दीक्षा ले ली। अब वह साला क्या करता, आखिर उसे भी मुनि होना पड़ा। दूरसे स्त्री खड़ी हुई यह तमाशा देख रही थी। वह विचार करने लगी पति भी मुनि होगया, भाई भी होगए। अब मैं गृहस्थीमें रहकर ही क्या करूंगी? अन्त में वह भी अर्जिका हो गई। यह सब क्या है? परिणामों की ही

तो विचित्रता है। मनुष्य के परिणामों के पलटनेका कोई समय नियत नहीं, न मालूम किसके कब भाव पलट जाएं, कोई नहीं कह सकता।

प्रद्युम्नकुमार जब विरक्त हुआ तो सारी सभामे जहांपर वसुदेव वासुदेव और बलभद्र आदि बैठे हुए थे कहता भया— न हम तुम्हारे है, और न तुम हमारे। तुम हमारे शरीरके पिता थे और हम तुम्हारे पुत्र। आज हम ससारसे उदासीन हुए हैं। वासुदेव कहने लगे—'अबे क्या बकता है, कलका छोकरा हमको समझाने आया है।, फिर प्रद्युम्नजी बोले—अच्छा तो तुम्हीं यहाके खंभ बने रहो। अब हमतो जाते हैं। रनवास में आकर स्त्रीसे बोले—हम तो दीक्षा लेते हैं। स्त्री बोली तुम यहा आये क्यों? क्या यहा लड़के का विवाह था या लड़की का? तुम दीक्षा ग्रहण करो या मत करो। मैं तो यह लो आर्यिका होगई। दासीसे कहा लाओ सफेद धोती। तो यह सब परिणामोंकी ही महिमा है। कहते हैं चक्रवर्ती छह खडका अधिपति था पर जब विरक्त हुआ तो सारी विभूतिको यों लात मार दी कि मुह फेर कर नहीं देखा। परिणामों में जब विरक्तता समा जाती है तो दुनिया की ऐसी कोई शक्ति नहीं जो मनुष्यके हृदय को पलट दे उसे विरक्त होनेसे रोक ले। इसीलिए कहा है सम्यक परिणामों की सबलता ही मुक्ति-रमासे मिलानेवाली दूती है।,

प्रवचनसारके चरित्राधिकारमे लिखा है कि एक मनुष्यको जब वैराग्य उत्पन्न हुआ तो उसने सकल स्वजनोंको बुलाकर कहा –

"अहो इदं जन-शरीर-जनकस्यात्मन् अहो इदं जन-शरीर जनन्या आत्मन् अस्य जनस्यात्मा न युवाभ्या जनितो भवतीति निश्चयेन युवा जानीत तत् इममात्मानं युवा विमुञ्चतं, अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञान-ज्योतिः आत्मानत्मेवामनो अनादिजनकमुपसर्पति।

अपने पितासे कहताहै कि देखो तुम हमारे शरीरको पैदा करनेवाले हो, हमारी आत्मा के नहीं। अब हमें वैराग्य उत्पन्न हुआ है तुम हमें मत रोकना। पुत्र को बुलाकर कहता है कि देखो बेटा, न तो हम तुम्हारे पिता हैं और न तुम हमारे पुत्र माता का रुधिर और हमारे वीर्यसे यह तुम्हारा शरीर उत्पन्न हुआ है। तुम्हारी आत्मा बिल्कुल स्वतन्त्र है। अतः हमे वैराग्य हुआ है तो हमसे ममत्व भाव छोड़ो। अपनी स्त्रीसे आकर कहता है देखो तुम हमारे शरीरको रमण करने वाली थीं। हमारी आत्माको नहीं। और हम भी तुम्हारे शरीर को रमण करने वाले थे। अतः हमें वैराग्य हुआ है तो तुम बीचमे मत पड़ना। अब यह दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य इन पंचाचारों से सहित निःशल्य हुआ एक अखण्ड टकोत्कीर्ण शुद्धात्मा को ध्याता है।

अतः मनुष्यके लिए एक शुद्धात्मा का ही अवलम्बन है।

इसीके लिए देखो यह सारा प्रयास है। और परिणामोंमें जितनी चंचलता होती है, यह सब मोहोदयकी कल्लोल माला है। उसमे कोई काम क्रोधादि विकारी भाव नहीं। यदि क्रोध आत्माका होता तो फिर क्यों कहते कि हमसे गलती हो गई, क्षमा करो। इससे मालूम होता है कि वह तुम्हारी आत्मा का विभाव भाव है।

एक मेहतरानी किसी स्थानपर झाड़ लगा रही थी। निकट ही एक तापसी बैठा था। झाड़ू लगाते समय कुछ धूलके कण उस तापसी पर भी पडे। वह तुरन्त ही क्रोधित हो गया और बोला—'ए मेहतरानी! क्या करती है?' वह बोली—झाड़ू लगाती हू।'

'तुझे दिखता नहीं है?'

'तुझे तो दिखता है'

'अरी, बड़ी चाडालनी है'

'अरे, मेरा पति तो तेरे घट मे बैठा है'

'क्या बकती है?'

'ठीक कहती हूँ,

इतनेमे दस पाच और आदमी इकट्ठे होगए। दोनोंमे खूब वाद विवाद हुआ। अन्तमे उससे मेहतरानीने कहा—'देखो चाडाल क्रोध तुम्हारे घटमें बैठा है या नहीं।'

कोई कहता है कि हमे क्षमा नहीं आती। बहुत शास्त्र पढ़ते है, सभामे श्रवणभी करते हैं, पर क्षमा मालूम ही नहीं पड़ती। मैं तो कहता हूँ कि क्षमा तीन कालमे नहीं आसकती। चाहे खूब माथा-पच्ची करो। बड़े बड़े लम्बे पोथगे शास्त्रों को बाच डालो, क्षमा यों कदापि नहीं आ सकती। हा, क्रोध छोड़ दो, क्षमा स्वत आ जायगी। क्षमा कहीं शास्त्रों में नहीं धरी, वह तो आत्माकी चीज है और आत्माकी चीज आत्मामे ही मिल सकती है। केवल क्रोध छोड़नेकी आवश्यकता है।

लक्ष्मण परशुराम सवादमे परशुराम लक्ष्मणसे कहते हैं कि हटजाओ मेरे सामने से।' तब लक्ष्मण उत्तर देते हैं 'मूदहु आख कतहु काऊ नाहीं। कर विचार देखहु मन माहीं।' आँख मीच लो कोई यहा नहीं है। तो बस आख मीच लो। हमारे कोई राग द्वेष नहीं। राग-द्वेष तो आत्माके विभाव भाव हैं। उनको हटा दो। अरे, अग्निका सयोग पाकर के जल मे उष्णपना है। जलको ठंडा करनेकी आवश्यकता नहीं है, किन्तु उसका उष्णपना मिटादो। जल स्वत. ठंडा हो जायगा। वैसे ही आत्माको शुद्ध स्वभाव मे लानेकी चेष्टा मत करो बल्कि विभाव भावों को मिटादो। आत्मा स्वतः अपने स्वभावमें आ जायगी। अत. राग-द्वेषको हटानेकी आवश्यकता है। इस प्रकार स्वात्मा के शुद्ध स्वरूपकी भावना करता हुआ सम्यग्ज्ञानी आगामी कर्म

बन्धनमें नहीं पड़ता है। अब बचे पूर्वबद्ध-कर्म हैं वह तो अपना रस देकर खिरेंगे ही उसको यों चुटकियों में भोग लेता है। इस तरह यह मोक्षार्थी पथिक मुक्तिके पथपर निरन्तर अग्रसर होता हुआ अपनी मंजिलका मार्ग तय कर लेता है और सदाके लिए शाश्वत सुखमे मगन हो जाता है।

आगे सम्यक्त्वका विशेष वर्णन करते हुए कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि वास्तवमे एक टंकोत्कीर्ण अपनी शुद्धात्मा को ही अपनाता है। वह किन्हीं पर पदार्थों पर दृष्टिपात नहीं करता। अरे, जिसके पास सूर्यका उजाला है, उसे दीपक की क्या आवश्यकता? उसकी केवल एक शुद्ध-दृष्टि ही रहती है। और संसारमे ही देखो—पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म और खान-पान के सिवाय है क्या? इसके अतिरिक्त और कुछ है तो बताओ। सब कुछ इसी मे गर्भित है।

अब बतलाते है कि भोग तीन तरह का होता है—अतीत, अनागत और वर्तमान। सम्यग्दृष्टि के इन तीनोमे से किसीकी भी इच्छा नहीं होती। अतीत में जो भोग भोग लिया उसकी तो वह इच्छा ही नहीं करता। वह तो भोग ही चुका। अनागत में वह वाछा नहीं करता कि अब आगे भोग भोगूंगा और प्रत्युत्पन्न कहिए वर्तमान में उन भोगों को भोगने मे कोई राग बुद्धि नहीं है। अतः इन तीनों कालोंमें पदार्थोंके भोगनेकी उसके सब प्रकार

से लालसा मिट जाती है। अतीतमे भोग चुका, अनागतमें वांछा नहीं और वर्तमानमे राग नहीं तो बतलाओ उसके बंध होय तो कहासे होय? क्या सम्यग्दृष्टि भोग नहीं भोगता? क्या उसके राग नहीं होता? राग करना पडता है पर राग करना नहीं चाहता। उसकी रागमें उपादेय बुद्धि मिटजाती है। वह रागको सवथा हेय ही जानता है। पर क्या करे, प्रतिपक्षी कषाय जो चारित्रमोह बैठा है उसका क्या करे? उसको उदासीनतासे सहन कर लेता है। उदयमें आओ और फल देकर खिर जाओ। फल दना बंध का कारण नहीं है। अब क्या करे जो पूर्व-बद्ध कर्म है उसका तो फल उदयमें आएगा ही परन्तु उनमे राग द्वेष नहीं। यदि फल ही बंधका कारण होना तो कभी भी मुक्ति प्राप्ति नहीं होती। इससे मालूम हुआ कि राग द्वेष और मोह बंध का कारण हैं।

अब देखो भइया! योग और कषाय ये दो ही तो चीजें हैं उसमे योग बंधका कारण नहीं कहा, बंध का कारण बतलाया है कषाय। कषाय से अनुरंजित प्राणी ही बंधनको प्राप्त होता है। देखिए १३ वे गुणस्थानमे केवलीके योग होते हैं, हुआ करो परन्तु उनमें कषाय नहीं मिली इसलिए अबंध है। अब देखो, ईंट पर ईंट धरकर मकान बना तो लो जब तक उसमें चूना न हो। आटेमें पानी मत डालो देखे कैसे रोटी हो जायगी? अग्नि

पर पानीसे भरी हुई बटलोई रक्खी है। अब उलथल खलबल हो रही है। तो क्या होता है—जबतक उनमें चावल न हों। एवं बाह्यमें समवसरण आदि विभूति है पर अन्तरगमे कषाय नहीं है—तो बताओ कैसे बंध होय ? तो मालूम पड़ा कि कषाय ही बंध को करानेवाली है। सम्यग्दृष्टिको कषायोंसे अरुचि हो जाती है। इसीलिए उसका राग-रस-वजन-शील स्वभाव हो जाता है। अब देखिए, तुम हमसे मिले। मिले तो सही पर अन्तरंगसे यही चाहते रहे कि कब यह बला टल जाय ? उससे मिलनेकी इच्छा ही नहीं होती। हम आपसे पूछते हैं, क्या वह मिलनेमें मिलना हुआ ? ऊपरसे मिला पर अन्तरगमे जैसा मिला वैसा ही नहीं मिला। वैसे ही भइया, सम्यक्त्वीको रागादिकों से अत्यन्त अरुचि हो जाती है। वह किसी पर-पदार्थकी इच्छा ही नहीं करता। इच्छा करे तो होता क्या है ? वह अपनी चीज होय न जब। अपनी चीज होय तो उसकी इच्छा करे। इच्छाको ही वह परिग्रह मानता है। और परिग्रह है क्या चीज ? पर-पदार्थ तो तुम्हारे कुछ होते नहीं। लोक क्या है ? छहद्रव्योंका समुदायही तो है। 'सब द्रव्य स्वत अपने २ स्वभावमे परिणमन कर रहे है। कोई किसीके पधीन नहीं होता।' पर मोहसे हम उसे मान लेते हैं कि यह तो हमारी है। क्या वह तुम्हारी हो जाती है ? सम्यग्दृष्टि बाह्य पदार्थोंको तो जुदा समझता ही है पर अन्तरंग परिग्रह जो रागादिक है उनकोभी वह हेय ही जानता है, क्योंकि

बाह्य-वस्तुको अपना माननेका कारण अन्तरंग के परिणाम ही तो हैं। यदि अन्तरंगमे छोड़ दो बाह्य वस्तु तो स्वत' छूटी ही है सम्यग्दृष्टि बाह्य पदार्थों की चिन्ता नहीं करता, वह उसके मूल कारण को देखता है। इसीलिए सम्यग्दृष्टिकी परिणति अटपटी हो जाती है। वह बाह्यमें कार्य करता अवश्य है पर अन्तरंगमे कुछ और ही रटना लगी रहती है। उसके अन्तरंगमें मिश्री ही घुला करती है। अत सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी में बड़ा अन्तर हो जाता है। सम्यक्त्वी को अन्तरंग दृष्टि होती है तो मिथ्यात्वी की बहिर्दृष्टि सम्यक्त्वी संसारमें रहता है पर मिथ्यात्वीके हृदय में संसार रहता है। जलके ऊपर जब तक नाव है तब तो कोई विशेष हानि नहीं, पर जब नाव के अन्दर जल बढ़ जाता है तो वह डूब जाती है एक रईस है तो दूसरा मईस, रईसके लिए बग्गी होती है तो बग्गी के लिए मईस। मिथ्यात्वी शरीरके लिये होता है तो सम्यक्त्वीके लिये शरीर। दोनों बहिरे होते है,। वह उसकी बात नहीं सुनता और वह उसको नहीं सुनता। वैसे ही मिथ्यात्वी सम्यक्त्वी की बात नहीं समझता और सम्यक्त्वी मिथ्यात्वी की। वह अपने स्वरूपमें मग्न है और वह अपने रंगमें मस्त है।

देखिये जो आत्मा और अनात्माके भेदों को नहीं जानता वह आगममे पापी ही बतलाया है। द्रव्यलिंगी मुनिको ही देखो

वह बाह्यमें सब प्रकार की क्रिया कर रहा है । अट्ठाईस मूल गुणों को भी पाल रहा है। बड़े बड़े राजे महाराजे नमस्कार कर रहे हैं। कषाय इतनी मंद है कि घानीमें भी पेल दो तो आहि न करे । पर क्या है ? इतना होते हुए भी यदि आत्मा और अनात्माका भेद नहीं मालूम हुआ तो वह पापी ही है। चरणानुयोग की अपेक्षासे अवश्य मुनि है पर करणानुयोगकी अपेक्षा मे मिथ्यात्वी ही है। उसकी गति नवग्रैवेयिकके आगे नहीं। ग्रैवेयिकसे च्युत हुआ और फिर वहीं पहुँचा। फिर आया फिर गया। इस तरह उसकी गति होती रहती है।

एक मनुष्य था, भइया ! उसने एक विद्या सिद्ध की जिसके फल स्वरूप एक देव प्रकट हुआ। देवने कहा—'क्या चाहता है ?' पर एक शर्त है--यदि तू मुझे काम नहीं बतलाएगा तो मैं तुझे मार डालूंगा। उस मनुष्यने स्वीकृति देदी और अपने सब कार्य करवा लिए। जब कोई काम शेष न रहा तब देवने कहा 'काम बतलाओ' अन्यथा मारता हूं। वह मनुष्य बोला अच्छा, एक रस्सी की सीढ़िया बनाओ। उसपर चढ़ो और उतरो। वह उसी माफिक उतरने चढने लगा। अन्तमें हाथ जोड़े और बोला 'तुम जीते मैं हारा' वैसे ही द्रव्यलिङ्गी चढता उतरता रहता है पर भावलिंगी एक दो भवमें ही मोक्ष चला जाता है। तो कहने का प्रयोजन यह है कि सम्यक्त्वी उस अनादिकालीन ग्रन्थि को--जो आत्मा और अनात्माके बीच पड़ी हुई थी अपनी प्रज्ञारूपी छैनीसे

छेद डालता है। वह सबको अपनेसे जुदा समझता हुआ अन्तरंगमें विचार करता है 'सहजशुद्धज्ञानानन्दैकस्वभावोऽहम् अर्थात् मैं सहजशुद्ध-ज्ञान और आनन्द एक स्वभावरूप हूं। एक परमाणु मात्र मेरा नहीं है।' उसकी गति ऐसी ही हो जाती है जैसे जहाजका पक्षी—उड़कर जाय तो बताओ? कहाँ जावे। इस ही को एकत्व एवं अद्वैत कहते हैं। 'संसारमें यावत् जितने पदार्थ हैं वह अपने स्वभावसे भिन्न है।' ऐसा चिंतवन करना यही तो अन्यत्व भावना है। अत. सम्यक्त्वी अपनी दृष्टिको पूर्णरूपेण स्वात्मा पर ही केन्द्रित कर देता है।

देखिये मुनि जब दिगम्बर हो जाते हैं तो हमको ऐसा लगता है कि कसे परीषह सहन करते होंगे? पर भइया! हम रागी और वे वैरागी। उनकी हमारी क्या समता? उनके सुखको हम रागी जीव नहीं पा सकते। सुकुमालस्वामीको ही देखिए। स्यालिनीने उनका उदर विदारण करके अपने क्रोधकी पराकाष्ठाका परिचय दिया, किन्तु वे स्वामी उस भयंकर उपसर्गसे विचलित न होकर उपशमश्रेणीद्वारा सर्वार्थसिद्धिके पात्र हुए। तो देखो यह सब अन्तरंगकी बात है। लोग कहते हैं कि भरतजी घर हीमें वैरागी थे। अरे, वह घरमे वैरागी थे तो तुम्हे क्या मिल गया? उनकोशान्ति मिली तो क्या तुम्हें मिल गई? उनने लड्डू खाये तो क्यातुम्हारा पेट भर गया? अरे, यों नहीं 'हमही घर वैरागी' ऐसी रटना लगाओ। यदि तुम घर ही वैरागी बनकर रहोगे तो तुम्हें

शान्ति मिलेगी। उनकी रटना लगाए रहो तो बताओ तुमने क्या तत्व निकाला ? तत्व तो जभी है जब तुम वैसे बनोगे। ज्ञानार्णव में लिखा है कि सम्यग्दृष्टि दो ही तीन हैं। तो दूसरा कहता है कि अरे, दो तो बहुत कह दिए—यदि एक ही होता तो कहते हम हैं। हम ही सम्यग्दृष्टि हैं। अत अपने को सम्यग्दृष्टि बनाओ ऊपर से छल कपट हुआ तो क्या फायदा ? अपनेको माने सम्यग्ज्ञानी और करे स्वेच्छाचारी। यह तो अन्याय हुआ। सम्यग्दृष्टि निरन्तर अपने अभिप्रायों पर दृष्टिपात करता है। भयंकरसे भयकर उपसर्गमे भी वह अपने श्रद्धान से विचलित नहीं होता देखो, गवर्नमेन्ट कितना ब्लेक मार्केट रोकती है पर तो भी होता ही है। वैसे ही सम्यक्त्वीको कितनी भी बाधा आए तो भी वह अपनेको मोक्षमार्गका पथिक ही मानता है।

सम्यग्दृष्टिका आत्म परिणाम

वेदकभाव—वेदनेवाला भाव—और वेद्यभाव-जिसको वेदे-इन दोनोंमें काल भेद है। जब वेदक भाव होता है तब वेद्यभाव नहीं होता और जब वेद्यभाव होता है तब वेदकभाव नहीं होता ऐसा होने पर जब वेदक भाव आता है तब वेद्यभाव नष्ट हो जाता है तब वेदक-भाव किसको वेदे ? और जब वेद्यभाव आता है तब वेदकभाव नष्ट हो जाता है तब वेदकभावके बिना वेद्यको कौन वेदे ? इसलिये ज्ञानी दोनोंको विनाशीक जान आप जानने वाला ज्ञाता ही रहता है।

अत सम्यक्त्वी के कोऊ चालका बंध ही नहीं होता। पर हम जब अपनी ओर दृष्टि डालते है तो भोगोंमे मग्न होनेके अलावा और कुछ दिखता ही नहीं है। भोग भोगना ही मानों अपना लक्ष्य बना लिया है। हम समझते है कि हम मोक्षमार्गमे लग रहे है पर यह मालूमही नहीं कि नरक जानेकी नसैनी बना रहे है।

एक मनुष्य बड़ा मूर्ख था वह हर समय अपनी मूर्खताके काम किया करता था इसीस उस नगरके सब लोग उसे मूर्ख कहने लगे। इसमे उसे बहुत दुख हुआ। उसने सोचा कि यदि मै जगलमे चला जाऊगा तो वहा मुझे कोई मूर्ख नहीं कहेगा। एक दिन वह घर मे निकल कर जगलमें चलागया और कुए मे पैर लटकाकर उसकी पाट पर बैठ गया। इतनेमें एक आदमी आया, उसने कहा भइया तू बड़ा मूर्ख है। वह बोला, तुम्हे कैसे मालूम हुआ? तब उसने कहा तुम्हारी करतूत से। वैसे ही आचार्य कहते है कि तुम भी अपनी करतूतोंसे भोगोंमे मग्न होकर समारमे डूब रहे हो। स्वयंभूस्तोत्रमें भगवान सुपार्श्वनाथ की स्तुतिमें स्वामी समन्तभद्राचार्यने लिखा है —

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुसा, स्वार्थो न भोग. परिभङ्गुरात्मा ॥
तृषोऽनुषङ्गान्न च तापशान्ति-रितीदमाख्यद्भगवान् सपार्श्वः ॥

स्वास्थ्य वही, जो कभी क्षीण न हो। जो क्षीणताको प्राप्त हो वह स्वास्थ्य किस कामका ? और स्वार्थी पुरुषोंके भोग भी विषम एव क्षणभगुर हैं। एकने पूछा कि जब तक भोग भोगते हैं तब तक उसे सुख कहो। तो कहते हैं कि वह भी सुख आतापका उपजाने वाला है, क्योंकि उसमें तृष्णारूपी रोग लगा हुआ है। अत भोगोंसे कभी तृप्ति नहीं मिल सकती। भोगोंसे तृप्ति चाहना ऐसा ही है जैसे अग्निको घीसे बुझाना। मनुष्य भोगोंमे मस्त हो जाता है और उसके लिये क्या २ अनर्थ नहीं करता। भोगोंके लिये जो अनर्थ करे जावें थोडे ही है। रावणको ही देखिए। वह जब सीताजीको ले जा रहा था। तब जटायु बचानेको आया। उसने एक थप्पड़ मारी, बेचारा रह गया। बतलाओ वह उस बलीसे क्या करता। वह तो भोगोंमें इतना आसक्त था कि उस भोगाधने यह विचार भी नहीं किया कि मैं इस दीन-हीन बेचारे पशुको क्यो मार रहा हूँ, क्योंकि भोगासक्तिने उसके विवेकको जो पगु बना दिया था। इसीसे विवेक को उसके हृदयमे स्थान नहीं मिला सम्यग्दृष्टिमें विवेक है वह भोगोंसे उदास रहता है— उनमे सुख नहीं मानता। जब वह स्वर्गादिककी विभूति भी प्राप्त करता है और नाना प्रकारकी विषय-सामग्री होते हुए भी अन्तमे देवोकी सभा में यही कहता है कि कब मैं मनुष्य योनि पाऊ ? कब भोगोंसे उदास होऊ ? और नाना प्रकारकीतपश्चर्या का आचरण कर मोक्ष रमणी वरू ?

ऐसी ही भावना निरतर बनी रहती है। और बताओ जिसकी ऐसी भावना निरंतर बनी रहती है क्या उसे मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती ? अवश्यमेव होती है। इसमें सन्देहको कोई स्थान ही नहीं।

अब कहते हैं कि जब सम्यग्दृष्टिको पर-पदार्थोंसे अरुचि हो जाती है तब घरमे क्यों रहता है ? और कार्य क्यों करता है ? इसका उत्तर कहते है कि वह करना नहीं चाहता पर क्या करे, जो पूर्वबद्ध कर्म है उनके उदयसे करना पड़ता है। वह चाहता अवश्य है कि मैं कोई कार्यका कर्त्ता न बनूं। उसकी पर-पदार्थोंसे स्वामित्व बुद्धि हट जाती है पर जो अज्ञानअवस्थामें पूर्वोपार्जित कर्म हैं उनके उदयसे लाचारीवश होकर घर-गृहस्थीमें रहकर उपेक्षा बुद्धिसे करना पड़ता है। इसका दृष्टान्त ऐसा है कि एक सेठ था। उसके यहा चोर आए। चोरोंने उस सेठ से पूंछा कि माल कहा है ? पहिले तो सेठ ने नहीं बताया। तब चोरोंने उसके हाथमे सुई चुभो दी। सेठने भयसे अपना सारा माल बतादिया। चोरोंने वह सब माल ले लिया और उसको ऊपरसे नीचे पटक दिया। सेठ जैसे तैसे वहा से भागा और चिल्लाता गया हाय रे हाय, मैं तो लुट गया। उधरसे उसका ईमानदार नौकर आ रहा था। उसने पूछा-सेठजी ! क्या बात है ? सेठजी तुनक कर बोले अरे, चोरोंने मुझे लूट लिया। नौकर तुरन्त ही घरमें गया और उन चोरोंको पकड़ लिया। उसने आवाज देते हुए

कहा-सेठजी, आप निश्चिंत रहिए मैंने चोरोंको पकड़ लिया है और आपका माल सब सुरक्षित है। सेठ जी हर्ष सहित अपने घर लौटे और देखा कि सब माल जहा का तहा है। बडे प्रसन्न हुए। अब हम आपसे पूछते हैं कि सेठजी अपना माल देखकर तो प्रसन्न हुए पर जो उसके हाथ मे सुई चुभोई गई उसका दर्द तो भोगना पड़ा। जो ऊपरसे उसे पटका गया उसका दर्द तो कहीं नहीं गया। ठीक यही हाल सम्यग्दृष्टिका होता है। वह अपनी आत्माका अनाद्यनन्त अचल स्वरूप देखकर तो प्रसन्न हुआ। उसक अपार खुशी हुई। पर अज्ञानावस्थामे जो जन्मार्जित कर्म हैं उसका फल तो भोगना ही पड़ेगा। वह बहुत चाहता है कि मुझे कुछ नहीं करना पड़े। मै कब इस उपद्रवसे मुक्त होजाऊ ? पर करना पड़ता है, चाहता नहीं है। उस समय उसकी दशा मरे हुए व्यक्तिके समान हो जाती है। उसको चाहे जितना साज श्रृङ्गार करो पर उसे कोई प्रयोजन नहीं। इसी भांति सम्यक्त्वीको चाहे जितनी सुख दुख की सामग्री प्राप्त हो जाय पर उसे कोई हर्ष विषाद नहीं।

हम कहते हैं कि मनुष्य अपना श्रद्धान न बिगाड़े, चाहे जो हो जाय। सूर्य पूर्वसे चाहे पश्चिम में उदित हो जाय पर हमको अपने स्वरूपसे चलायमान नहीं होना चाहिए। जब भइया ! सीता का लोकापवाद हुआ तब रामने कृतांतवक्रको बुलाकर कहा-'ले जाओ, सीताको बीहड़ वन मे छोड़ आओ।'

वह सीता महारानीको वनमें ले गया जहाँ नाना प्रकारके सिंह चीते और व्याघ्र अपना मुंह बाए फिर रहे थे। सीता ऐसे भयकर वनको देखकर सहम गई और बोली मुझे यहा क्यों लाए ? तब कृतान्तवक्र कहते हैं हे महारानी जी! जब आपका लोकापवाद हुआ, तब रामने आपको वनमें त्यागनेका निश्चय कर लिया और मुझे यहा भेज दिया। उसी समय सीताजी कहती हैं कि जाओ, रामसे जाकर कह देना कि जिस लोका-पवादसे तुमने मुझे त्याग कर दिया, कहीं उसी लोकोपवादके कारण तुम अपने श्रद्धानसे विचलित मत हो जाना। इसे कहते है श्रद्धान। सीताको अपना आत्मविश्वास था। क्या ऐसा श्रद्धान हम आप नहीं कर सकते ? उस तरफ लक्ष्य करें न जब। हम तो ससारमें रहना चाहें और मोक्ष भी चाहें—ऐसा कभी हुआ और न हो सकता है।

दो मुख पथी चले न पथा, दो मुख सूई सिये न कथा।
दोऊ काम न होंय सयाने, विषय भोग अरु मोक्षहि जाने॥

वे पथेहिं ण गम्मइ वे मुहसुई ण सिज्जए कंथा।
विण्णि ण हुंति अयाणा, इंदिय-सोक्खं च मोक्खं च॥
—मुनि रामसिंह पाहुड दोहा

प्रथम हमारी उस तरफ रुचि होनी चाहिए। सम्यग्दृष्टिको मुक्तिकी उत्कट अभिलाषा रहती है। उसकी परपदार्थोंसे मूर्छा (ममता) हट जाती है। तब वह अपना माननेकी भूलको सुधार लेता है और देखो मानने ही का तो सारा झगड़ा है। एक जगह चार मनुष्य परस्पर वार्तालाप कर रहे हैं। एक ने दूसरेको गाली निकाली। अब वह दूसरा मनुष्य मान बैठा कि इसने यह गाली मुझको दी, इससे वह क्रोधसे आग बबूला हो गया। अब देखो, उस दूसरे मनुष्यने मात्र मान ही तो लिया कि यह गाली मुझे दे रहा है, नहीं तो जानता कि यह तो वचनरूप पुद्गल परमाणु हैं और क्रोधित नहीं होता। और भी मनुष्य वहा बैठे थे उन्होंने नहीं माना, इसलिये क्रोधित नहीं हुए। तो मनुष्य माननेमे ही आत्माका अहित कर डालता है।इन सबको हम अपनी चीज मानते हैं तभी तो विकल्प होता है—हाय रे, हाय-कहीं यह चीज चली न जाय? अच्छा, जो चीज तुमने अपनी मानी, वह तुम्हारे अन्दर तो न चली गई पर अन्दर विकल्प होता रहता है। चीज रक्खी है वहा पर, विकल्प कर रहे हैं अन्दर। और जब तुमने उससे ममत्व हटा लिया, तो दुनिया ले जाय कुछ विकल्प नही।

भेदज्ञानकी महिमा

एक वैश्य था भइया! वह बड़ा हट्टा कट्टा था। उसने एक क्षत्रीको पटक लिया और उसकी छाती पै बैठ गया। क्षत्रीने पूछा 'भाई तू कौन है?' उसने कहा 'मैं वैश्य हूँ।' इतना

कहना था कि झट उस क्षत्रीको जोश आ गया और एक झटका देकर उसकी छाती पर सवार हो गया। इसी तरह जब तक हम अज्ञानी थे पुद्गल द्रव्यको अपना माने हुए थे तब तक पुद्गल अपना प्रभाव जमाये हुए था और जिस काल हमारे निज स्वरूपका ज्ञान भानु (सूर्य) उदित हुआ तब सर्व अज्ञानके चिमगादड़ खिला गए। हमको मालूम हो गया कि हमारा आत्मा तीन लोकका धनी है। पुद्गल हमारा क्या कर सकता है? मानने मे गलती पड़ी हुई थी वह मिटगई पुद्गलको पुद्गल और आत्मा को आत्मा जान लिया। और देखो माननेका ही ससार है। अन्धकारमें रज्जुको सर्प मान बैठे है तभी तक तो भय है। वह मानना मिटादो, आत्माको आत्मा और पुद्गलको पुद्गल जानो। आत्माको आत्मा जान लिया, तो कहीं शरीर नष्ट नहीं हो जाता। जैसे पुरुषको स्त्रीसे विरक्तताहु ई तो क्या स्त्री कहीं चली जाती है? अरे, जिस चीजसे हम स्त्रीको अपना मान रहे थे, वह चीज मिट गई। वैसे ही मोहोदयसे शरीरमें जो आत्मीय-बुद्धि लग रही थी, वह मिट गई। भेदज्ञानको प्राप्तहोकर शरीरको शरीर और आत्माको आत्मा जानलिया। यही तो भेद विज्ञान है।

अन्यमती कहते हैं कि भगवान सच्चिदानन्दमय-सत् चित आनन्दमय है सत् क्या कहलाता? 'उत्पादव्ययध्रौव्य युक्त' सत् संसारमें ऐसा कोई पदार्थ है जो उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त नहीं होता, यदि होता तो बताओ। जैसे एक स्वर्णकी डली है। उसे

गलाकर कटक बना लिया। यहा डलीका तो व्यय हुआ और कटककी उत्पत्ति हुई, पर स्वर्णत्व दोनोंमे एकसा पाया गया, इसी तरह एक मनुष्य मरकर देव हुआ। यहाँ पर मनुष्य पर्याय का तो व्यय हुआ, देवपर्यायकी उत्पत्ति हुई और चेतन जीव ध्रुव हुआ, क्योंकि वह मनुष्य पर्यायमे भी था और देवमे भी है। इस तरह पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त हैं। यदि उत्पाद-व्यय ध्रौव्ययुक्त पदार्थ न हों तो ससारका कोई व्यवहार ही न चले। तो सत्‌का कभी विनाश नहीं होता।

ससारके सब पदाथ अपने अपने स्वरूपमें है। कोई किसी से मिलता नहीं। और पदार्थोंकी भी तभी शोभा है जब एक दूसरे से न मिले। यदि मिल गये तो उनका स्वरूप च्युत हो जाता है उनमे विकृति आ जाती है। आत्मा अपने स्वरूपसे च्युत हुई तो देखलो ससारमे भटक रही है। अपने स्वरूपमें आने से ही शोभा है। तो सम्यग्दृष्टि अपनी आत्माके अलावा किसी पर पदार्थोंके सयोग की वाञ्छा नहीं करता। वह सर्व पदार्थो को यहा तक कि परमाणुमात्र तकको अपनेसे जुदा समझता है। और भइया जब तक परपदार्थ को अपनाते रहोगे तब तक दान देना भी व्यर्थ है। यह निश्चय समझो। दान देते समय पदार्थोंसे ममत्व हटालो। यदि ममत्व नहीं हटाया और दान कर दिया तो मनमें विकल्पता आजायगी। कदाचित् सोचोगे कि

हमने ५००) रु० का दान किया तो हमे आगे १०००)रु० मिलें। नाना प्रकारका तपश्चरण किया तो स्वर्गमे अप्सराओंके भोग चाहोगे। अत दान करो तो उन पदार्थोंसे मूर्छा हटाओ समझो हमारी चीज ही नहीं है। ममत्व हटाया नहीं और दान कर दिया तो वह निहायत बेवकूफी है। तो यह सब अन्तरंगके विकल्प है और कुछ नहीं। किसी दीन को देखकर तुम्हे करुणा आई और अन्दर विकल्प हुआ कि कुछ देना चाहिए। अत. देने की आकुलता हो गई। और जब तक नहीं दोगे, तब तक वह आकुलता न मिटेगी। दूसरोंको दान करते हो तो तुम अपनी आकुलता मेटनेके वास्ते करते हो और जिसके आकुलता नहीं होती, तो वह कह देते है कि "चल चल यहासे।" अत. आकुलतासे ही दान दिया जाता है। उसी तरह दया, क्षमा, यम सयमके भाव भी आकुलतामय हैं। देखो, आचार्योको ससारके प्राणियों पर दया आई तभी तो द्वादशाग वाणीकी रचना हुई किन्तु यथार्थ दृष्टिसे विचार करो, को आचार्यने यह कार्य परके अर्थ नहीं किया, किन्तु सज्वलन कषायके उदयमे उत्पन्न हुई वेदनाके प्रतिकारके अर्थ ही उनका यह प्रयास हुआ। परको तत्व ज्ञान हो, यह व्यवहार है और यह सब छठे प्रमत्त गुणस्थान में होता है। अप्रमत्तमें और आगे तो कोई आकुलता ही नहीं। इससे साबित हुआ कि वह एक निर्विकल्प भाव है।

उस आत्मामें कोई प्रकारके मोहादिक भाव नहीं। मोहका

प्रपञ्च ही अखिल ससार है। अब देखिए, आदिनाथस्वामी के दो ही तो स्त्रियॉ थीं नन्दा और सुनन्दा। उन दोनोंको त्याग कर वन मे भागना पड़ा। क्यों? घरमे नहीं रह सकते थे। यदि कल्याण करना अभीष्ट है तो भागो यहासे, वनका आश्रय लो। अरे, क्या घर मे कल्याण नहीं कर सकते थ? नहीं। स्त्रियोंका जो निमित्त था। कल्याण कैसे कर लेते। मोह की सत्ता जो विद्यमान है। वह तो चुलबुली मचाए दे रहा है। कहता है जाओ बनमे। अरे, किसी बगीचे मे ही चले जाते, नहीं। कारण कूट बड़ी चीज है। बनमे ही जाओ छ महीनेका मौन धारण करो। एक शब्द नहीं बोल सकते। और छ महिने का अन्तराय हुआ यह सब क्या मोह की महिमा नहीं है। अच्छा, वहा घरसे तो दो ही स्त्रियॉ छोड़ीं और समवशरणमे हजारों लाखों स्त्रियॉ बैठी है, तब वहा से नहीं भागे। इसका कारण यही, कि यहा मोह नहीं था। और वहा मोह था, तो जाओ वन में, धरो छः महीने का योग। अतः मोहकी विलक्षण महिमा है।

मोहसे ही ससार का चक्र चल रहा है। यह कम ही मनुष्यों पर सर्वत्र अपना रौब गालिब किए हुए है। इसके नशे मे मनुष्य क्या २ बेढब कार्य नहीं करता। यहां तक कि प्राणान्त तक कर लेता है। जब स्वर्गमे इन्द्र अपनी सभामे देवोंसे यह कह रहा था कि इस समय भरतक्षेत्रमें राम और लक्ष्मणके समान स्नेह और किसीका नहीं। उसी समय एक देव उनकी

परीक्षाके हेतु अयोध्यामे आया। वहा उसने ऐसी विक्रिया व्यीाप्त करी कि नगरका सारा जनसमूह शोकमय दिखाई पड़ने लगा। नर-नारी अत्यधिक व्याकुल हुए, ऐसे रुदनमय शब्द करते हुए कि जो श्री रामचन्द्रका देहावसान हो गया। जब यह भनक लक्ष्मणजी के कर्ण पुटमें पडी तो अचानक लक्ष्मणके मुखसे 'हा राम' भी पूर्ण नहीं निकला कि उनका प्राणान्त हो गया। यह सब मोहकी विलक्षण महिमा ही है। 'यह ऐसा है वैसा नहीं है यह ऐसा पीछे है वैसा पीछे नहीं था ऐसा आगे है वैसा आगे नहीं होगा' मोहमे ही करता है। मोहमे ही तो सीता का जीव रामसे आकर कहता है कि स्वर्गमे हमारे पास आ जाना। यह मनुष्यका भयंकर शत्रु है मोक्षमार्गसे विपरीत परिणमन कराता है। अत' यदि मोक्षकी ओर रुचि है तो भूरिशः विकल्पजालोंको त्यागो। मोहको जैसे बने कम करनेका उद्यम करो। यदि पचेन्द्रिय-विषयों के सेवनमें मोह कम होता है तो वह भी उपादेय है और यदि पूजा दानादि करनेमें मोह बढता है तो वह भी उस दृष्टि से हेय है। दुनिया मोह करे कभी इस में मत फसो। कोई भी तुम्हें मोह में नहीं फंसा सकता। सीताके जीवने सोलहवें स्वर्ग से आकर श्रीरामचन्द्रको कितना लुभाया पर वह मोहको नाश कर मोक्षको गए।

अत इससे भिन्न अपनी ज्ञान स्वरूपी आत्माको जानो। 'तुष मास भिन्न' मुनिको आत्मा और अनात्माका भेद मालूम पड़

गया, तो देखलो कवली होगए। द्वादशांगका तो यही सार है कि अपने स्वरूपको सिद्धा।। और उसमें अपनेको ऐसे रमालो जैसे नमककी डली पानीमे घुल-मिल जाती है। उपयोगमे दत्तचित्त हो जाओ—यहा तक कि अपने तन-मनकी भी सुध-बुद्ध न रहे। और, देखो उपयोगका ही सारा खेल है। अपने उपयोगको कहीं कहीं स्थिर रखना चाहिये जिस मनुष्यका उपयोग डावाडोल रहता है वह कदापि मोक्षमार्गमे प्रवर्तन नहीं कर सकता। एक मनुष्यने दूसरेसे कहा कि मेरा धर्ममें मन नहीं लगता। तब दूसरेने पूछा कि तेरा मन कहा और किसमे लगता है? वह बोला मेरा मन खानेमें अधिक लगता है। तो दूसरा कहता है—अरे, कहीं पर लगता तो है। मैं कहता हू कि मनुष्यका आर्त-रौद्र परिणामों मे ही मन लगा रहे। कहीं लगा तो रहता है। अरे, जिसका आर्त परिणामोंमे मन लगता है वही किसी दिन धर्म मे भी मन लगा सकता है। उपयोगका पलटना मात्र ही तो है।

एक विश्व प्रसिद्ध गणितज्ञ था। उसके दैवयोगसे गर्दनमे फोड़ा होगया। वह अस्पताल मे गया और डाक्टरको उसे दिखाया। डाक्टर ने कहा तुम्हें दवा सुँघाई जायगी और बेहोश करके फोड़ा चीरा जायगा। उसने कहा—नहीं ऐसा मत करो। तुरन्त ही एक बोर्ड मगवाया और उस समय ही जर्मनसे जो एक प्रश्न आया उसको उस बोर्ड पर लिख दिया और कहा-हा,

अब फोड़ा चीरो। डाक्टरने वह फोड़ा चीर दिया और जब वह पट्टी बाध रहा था उसी समय उसका प्रश्न हलहो गया। तब वह कहता है डाक्टर, यहा जरा चिनमिनाहट भी मब रही है।' यह भइया, उपयोग है ऐसा हो उपयोग यदि आत्मामें लग जाय तो कल्याण होनेमें कुछ विलम्ब न लगे।

आपके मोक्षमार्ग-प्रकाशकके रचयिता स्वर्गीय प० टोडरमल जी थे। जब वह एक ग्रन्थकी रचना कर रहे थे तो मा ने एक दिन उनकी परीक्षा करनी चाही। उसने शाकमे नमक नहीं डाला। मल्लजी सा० घर आते और खानपीनसे निवृत्त होकर फिर स्वकार्य मे लग जाते। इसी तरह छः मास पर्यंत मा ने नमक नहीं डाला। जब ग्रन्थ पूर्ण हो चुका और वह खाने बैठे तो मा से बोले मा! आज शाकमे नमक नहीं है।' मा बोली—बेटा, मैंने तो छः महीने तक नमक नहीं डाला आज तुझे कैसे मालूम हुआ। तो भइया यह उपयोग है। यही उपयोग मोक्षमार्गमें साधक है। धन्य है उस उपयोगको जो केवल अन्तर्मुहूर्तमे सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर इस आत्मामें केवल ज्ञानका प्रसार करता है

शास्त्रोंमे सम्यक्त्वीको पहिचाननेके लिए चार लक्षण बताए है १. प्रशम २. सवेग ३. आस्तिक्य और ४. अनुकम्पा। ये लक्षण बाह्यकी अपेक्षा कहे हैं। वैसे सम्यक्त्वीको विषयोंसे अरुचि हो जाती है, यह प्रकट है। पर क्या करे अनादिकालकी

जो आदत पड़ी हुई है-उसका क्या करे। वह भोग अवश्य भोगता है पर देखा जाय तो उन विषयोंमे उसके शिथिलता आ जाती है किसीने कदाचित उसका अपराध भी किया, तो उसके बदला लेनेके भाव कदापि नही होते। युद्धभूमिमें वह हजारों योद्धाओंसे युद्ध भी करता है पर क्या वह ऐसा अन्तरगसे चाहता है कि उसे युद्ध करना पडे ? कविवर प० दौलतरामजीने ठीक कहा है -

> चिन्मूरति दृगधारी की मोहि, रीति लगत है अटापटी।
>
> बाहिर नारकिकृत दुख भोगै, अन्तर निजरस गटागटी।
>
> रमत अनेक सुरनि सग पै तिस, परिणतितै नित हटाहटी।

वास्तवमे उसकी रीति अटपटी होजाती है। नरकमे नारकियों द्वारा नाना प्रकारके दु'ख भोगता है, पर अन्तरगमे उसके मिश्री ही घुला करती है। अनेक देवागनाओंके समूहोंमें रमण करता हुआ भी नित्य उस परिणतिसे हटना चाहता है।

राजवार्तिक मे लिखा है कि हिसाको दूर करनेका कौनसा उपायहै। उत्तरमें कहा कि जो प्रयोग तुम दूसरों पर करना चाहते हो उसका प्रयोग पहिले स्वय' अपनी आत्मा पर करो। जैसे सुईके चुभोनेसे अपनेको दर्दका अनुभव होता है तोक्या दूसरों पर तलवार चलानेमे उनको दर्दका अनुभव नहीं होता ? अवश्य होता है। हिंसाको मिटानेका यही उपाय है। और क्या है ?

अब सप्त भयोंका वर्णन करते हुये बतलाते हैं कि सम्यग्दृष्टि को उनमेंसे किसी प्रकारका भय नहीं। पहला इह-लोक भय है सम्यग्दृष्टिको इस लोकका भय नहीं होता। वह अपनी आत्मा-के चेतनालोकमे रहता है। और लोक क्या कहलाता है? जो नेत्रों से सबको दीख रहा है। उसे इस लोकसे कोई मतलब नहीं रहता। वह तो अपने चेतना लोकमें ही रमण करता है। लोकमे भी भइया! तब भय होता है जब हम किसीकी चीज चुराएं। परमार्थदृष्टिसे हम सब चोर है जो परद्रव्योंको अपनाए हुए हैं। उन्हें अपना मान बैठते है। सम्यग्दृष्टि परमाणु मात्रको अपना नहीं समझता। इसलिए उसे किसीभी प्रकार इस लोकका भय नहीं होता। दूसरा परलोक भय है। उस स्वर्ग नरकका भय नहीं। वह तो अपने कर्तव्यपथ पर आरूढ है। उसे कोई भी उस मार्गमे च्युत नहीं कर सकता। वहतो नित्यानन्दमयी अपनी ज्ञानात्माका ही अवलोकन करता है। यदि सम्यक्त्वके पहिले नरकायुका बध कर लिया हो तो नरककी वेदना भी सहन कर लेता है। वह अपने स्वरूपको समझ गया। अत. उसे परलोक-का भी भय नहीं होता। अब तीसरा वदना भय है। वह अपनी भेद-विज्ञानकी शक्तिसे शरीरको जुदा समझता है और वेदनाको समतासे भोग लेता है। जानता है कि आत्मामे तो कोई वेदना है ही नहीं इसलिए खेद-खिन्न नहीं होता। इस प्रकार उसे वेदना का भय नही होता। चौथा है अनरक्षाभय। वह किसीको भी अपनी रक्षा के योग्य नहीं समझता। अरे इस आत्माकी रक्षा

कौन करे ? आत्माकी रक्षा आत्मा ही स्वयं कर सकता है। वह जानता है कि गढ़, कोट, किले आदि कोई भी यहा तक कि तीनों लोकोंमें भी इस आत्माका कोई शरण स्थान नहीं। गुफा, मसान, शैल, कोटरमे वह निःशंक रहता है। शेर, चीते, व्याघ्रों आदिका भी वह भय नहीं करता। आत्माकी परपदार्थोंसे रक्षा हो ही नहीं सकती। अत उसे अनरक्षा भयभी नहीं। अगुप्तिभयमे व्यवहार म माल असबाबके लुट जानेका भय रहता है तो सम्यक्त्वी निश्चयसे विचार करता है कि मेरा ज्ञान धन कोई चुरा नहीं सकता। मैं तो एक अखड ज्ञानका पिंड हूँ। जैस नमक खारेका पिंड है। खारेके सिवाय उसमें और चमत्कार ही क्या है। वैसे ही इस आत्मामें चतनाके सिवाय और चमत्कार ही क्या है ? यह चेतना हर समयमे मौजूद बनी रहती हे। ऐसा ज्ञानी अपनी ज्ञानात्माके ज्ञानमे ही चितवन करता रहता है। एक होता है आकस्मिक भय। वह किसी भी आकस्मिक विपत्तिका भय नहीं करता। भय तो तब करे जब भयकी आशंका हो। उसकी आत्मा निरन्तर निर्भय रहती है। अत उसे आकस्मिक भय भी नहीं होता। और एक मरण भय होता है मरण क्या कहलाता ? दस प्राणोंका वियोग हो जाना ही तो मरण है। पाच इन्द्रिय तीन बल, एक आयु और एक श्वासोच्छ्वास इनका वियोग होते ही मरण है,। परन्तु वह अनाद्यनन्त, नित्योद्योत, और ज्ञान स्वरूपी अपनेको चिन्तवन करता है। एक चेतना ही उसका प्राण है। तीन कालमें उसका वियोग नहीं होता। अत चेतना-मयी

ज्ञानात्माके ध्यानसे उसे मरणका भी भय नहीं होता इस प्रकार सात भयोंमें से वह किसी प्रकार का भय नहीं करता। अतः सम्यग्दृष्टि पूर्णतया निर्भय है।

अब सम्यक्त्वके अष्ट अंगोंका वर्णन करते हुए बतलाते हैं कि सम्यक्त्वीको ये अंग भी पूर्णतया पालनीय हैं। पहला है नि:शंकित। उसे किसी प्रकारकी भी शंका नहीं रहती। वह निधड़क होकर अपने ज्ञानमें ही रमण करता है। सुकोशल स्वामी को व्याघ्री भक्षण करती रही, पर वह नि:शंक होकर अंत-मुहूर्त मे केवलज्ञानी बने। शकाको तो उसके पास स्थान ही नहीं रहता। उसे आत्माका स्वरूप भासमान हो जाता है। अतः नि:शकित हैं। दूसरा है नि:कांक्षित, आकांक्षा करे तो क्या भोगों की, जिनको वर्तमान मे ही दुखदायी समझ रहा है। वह क्या लक्ष्मीकी चाहना करेगा? अरे, क्या लक्ष्मी रांड कहीं भी थिर होकर रही है? तुम देखलो जिस जीवके पुण्योदय हुआ उसीके पास दौडी चली गई। अत. ज्ञानी पुरुष तो इसको स्वप्नमें भी नहीं चाहते। वे तो अपने ज्ञान-दर्शन-चारित्रमई आत्माका ही सेवन करते है। निर्विचिकित्सा तीसरा अ ग है। सम्यग्दृष्टिको ग्लानितो होती ही नहीं। अरे, क्या मलसे ग्लानि करे? मलतो प्रत्येक शरीरमे भरा पड़ा है। तनिक शरीरको काटो तो सिवाय ग्लानिके कुछ नही।

प्रो० इश्वरचन्द विद्यासागर जब कालेज जारहे थे तो रास्तेमे

एक नौकरको वमन करते देखा। उन्हे उसपर दया आ गई और अपने कंधे पर बिठलाकर घरमे ले आए। डाक्टरको उसी समय टेलीफोन किया कि एक आदमीको हैजेकी बीमारी है अत तुरंत चले आओ। डाक्टरके आने पर वह अपनी माता और स्त्रीसे कह गया कि इसकी खब सेवा करना। जब वह आदमी अच्छा हो गया तो विद्यासागरने उसे लेजाकर उसके मालिकके सुपुर्द किया जिसका वह नौकर था और कहा कि अब इसकी तबियत अच्छी है इसे अपने पास रखलो। वह मालिक ईश्वरचन्द्रको देखकर बड़ा लज्जित हुआ। तब विद्यासागरने कहा—'कोई बात नहीं है, तुम्हे फुरसत नहीं होगी। मैंने इसका इलाज कर दिया है।' तब उस मालिकने उसके नामसे दस हजार रुपये जमा कराए और उससे कहा— तुम हमारी देहली पर बैठे रहा करो, तुम्हारे वास्ते और कुछ काम नहीं है। और उसको ५०) रुपये मासिक बाध दिये। तो यह है निर्विचिकित्सा अङ्ग। किस पदार्थसे ग्लानि करे ? सब परमाणु स्वतन्त्र है। मुनि भी देखो भइया। किसी मुनिको वमन करते देखकर ग्लानि नहीं करते और अपने दोनो हाथ पसार देते है। अत सम्यग्दृष्टि इस निर्विचिकित्सा अङ्गका भी पूर्णतया पालन करता है। चौथा अङ्ग है अमूढदृष्टि। मूढदृष्टि तो तभी है जब पदार्थोके स्वरूपको कोई न समझे—अनात्मामे आत्मबुद्धि रक्खे—पर सम्यक्त्वीके यह अङ्ग भी पूर्णतया पलता है उसकी अनात्मबुद्धि नहीं होती, क्योकि उसे भेद-विज्ञान प्रकट हो गया है।

उपगूहन पाचमा अग है। सम्यग्दृष्टि अपने दोषोंको नहीं छिपाता। अमोघवर्ष राजाने लिखा कि भइया प्रछन्न (गुप्त) पाप ही सबसे बड़ा दोष है जिससे वह निरन्तर सशंकित बना रहता है।

एक राजा था। जब वह अशुचि गृह मे जा रहा था तब उसे वहा एक सब मिला और उठाकर खा लिया अब देखो किसीको भी यह पता नहीं था। जब वह राज-दरबारमे आया तो वहा रडियोंका नाच-गान शुरू हुआ। एक रडीने गाया 'कहदैहों ललन की बतिया'। राजा समझ गया और उसने सोचा कि इस राडने देख लिया। उसने यह सोच कर उसे एक स्वर्ण-मुद्रा प्रदान की कि वह किसीसे यह बात प्रकट न करे। जब उसने दूसरा गाया तब कुछ नहीं दिया। इसी तरह तीसरे गानेमें भी कुछ नहीं दिया। तो रडी सोचने लगी कि राजा इसी गाने पर मुग्ध हैं। वह बार बार उसीको ही गाने लगी- 'कह दैहों ललनकी बतिया'। राजा बड़ा असमजसमे पड़ा और उसने तब दो तीन चीजें दीं— यहा तक कि सारे शरीरके आभूषण उतार कर उसे दे दिए। जब उसने वही गाना गाया तो राजाने सोचा कि इसने सब कुछ तो ले लिया, अब क्या करू ? वह प्रकट में बोला 'जा, मैंने सेव खाया है जिससे तुझे कहना है। जाकर कहदे।' तो प्रच्छन्न पाप बड़ा दुखदाई होता है। अरे, जो पाप किए हैं उसे सामने प्रकट कर देवे तो उतना दुख नहीं होता। सम्यग्दृष्टि अपने दोषोंको एक एक करके निकाल फेंकता है। और एक निर्दोष आत्माको ही ध्याता है। स्थितिकरण छठा अंग है। जब कोई अपने ऊपर

विपर्यास आजाय अथवा आधि-व्याधि हो जाय और रत्नत्रयसे अपने परिणाम चलायमान हुए मालूम पड़ें, तब अपने स्वरूपका चिंतवन कर लेवे और पुन. अपनेको उसमें स्थित करले। व्यवहारमें परको चिगते में सभाले। इस अंगको भी सम्यक्त्वी विस्मरण नहीं करता। वात्सल्य अंग सातवां है। गौ और वत्सका वात्सल्य प्रसिद्ध है। ऐसा ही वात्सल्य अपने भाइयोंसे करे। सच्चा वात्सल्य तो अपनी आत्माका ही है। सम्यक्त्वी समस्त प्राणियोंसे मैत्री भाव रखता है। उसके सदा जीव-मात्रके रक्षाके भाव होते हैं। एक जगह लिखा है.—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

'यह वस्तु पराई है अथवा निजकी है ऐसी गणना क्षुद्र चित्तवालोंके होती है। जिनके उदार चरित्र हैं उनके तो पृथ्वी ही कुटुम्ब है।' सम्यग्दृष्टि भगवानकी प्रतिमाके दर्शन करता है पर उसमें भी वह अपने स्वरूपकी ही झलक देखता है जैसा उनका चतुष्टय स्वरूप है वैसा मेरा भी है। ऐसा वह अपनी आत्मासे प्रगाढ़ वात्सल्य रखता है। और अन्तिम अंग है प्रभावना। सच्ची प्रभावना तो वह अपनी आत्माकी ही करता है पर व्यवहारमे रथ निकालना, उपवास करना आदिकी प्रभावना करता है। हम दूसरोंको जैनी बनानेका उपदेश करते हैं पर स्वयं जैनी बननेकी कोशिश नहीं करते। यह हमारी कितनी भूल है? अरे, पहले

अपनेको जैनी बनाओ। दूसरेकी चिन्ता मत करो। वह तो स्वयं अपने आप हो जायगा। ऐसी प्रभावना करो जिससे दूसरे कहने लगे कि यह सच्चे जैनी हैं। भगवानको ही देखो। उन्होंने पहले अपनेको बनाया' दूसरेको बनानेकी परवाह उन्होंने कभी नहीं की यदि तुम जैनी बन जाओगे तो फिर 'यथा पाण्डे तथा ब्रह्माण्डे' के अनुसार एकका असर दूसरे पर अवश्य पड़ेगा। इसी तरह सब मनुष्य अपनी अपनी चिन्ता करने लगे तो किसी को किसीकी चिन्ता करनेकी जरूरत न रह जाय। यह सिद्धात है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि उक्त अष्टअंगोंका पूर्णतया पालन करता हुआ अपनी आत्माकी निरन्तर विशुद्धि करता रहता है। तो भइया सम्यग्दृष्टि बनो। समताको लानेका प्रयत्न करो। समता और तामस ये दो ही तो शब्द हैं। चाहे समताको अपनालो या चाहे तामसको। समतामें दुख है तो तामसमे दुख है। समता यदि आजायगी तो तुम्हारी आत्मामे भी शांति प्राप्त होगी। सन्देह मत करो।

अब कहते है जो आत्मा और अनात्माके भेदको नहीं जानता वह मिथ्यात्वी है। और वास्तवमे देखो तो यह मिथ्यात्व ही जीवका भयंकर शत्रु है। यही चतुर्गतिमे रुलानेका कारण है। दो मनुष्य हैं पहिलेको पूर्वकी ओर जानाहै, और दूसरेको पश्चिम की ओर। जब वे दोनों एक स्थान पर आए तो पहलेको दिग्भ्रम हो गया और दूसरेको लकवा लग गया पहले वालेको जहा पूर्वकी ओर जाना चाहिए था किन्तु दिग्भ्रम होनेसे वह

पश्चिमकी ओर जाने लगा। वह तो समझता है कि मैं पूर्वकी ओर जा रहा हूँ पर वास्तव मे वह उस दिशासे उतना ही दूर होता जा रहा है। और दूसरे लकवे वालेको हालाकि पश्चिमकी ओर जानेमे उतनी दिक्कत नहीं है, क्योंकि उसे तो दिशाका परिज्ञान है। वह धीरे धीरे अभीष्ट स्थान पर पहुच ही जायगा। परन्तु पहले वालेको तो हो गया है दिग्भ्रम। अत ज्यों ज्यों वह जाता है त्यों त्यों उसके लिए वह स्थान दूर होता जाता है। उसी तरह यह मोह मिथ्यात्व, मोक्षमार्गसे दूर ला पटकता है। शेष तीन घातिया कर्म तो जीवके उतने घातक नहीं। वे तो इस मोह-के नाश हो जाने से शनै शनै क्षयको प्राप्त हो जाते है। पर बलवान है तो यह मोह मिथ्यात्व, जिसके द्वारा पदार्थोंका स्वरूप विपरीत भासता है। जैसे किसीको कामला रोग हो जाय तो उसे अपने चारों ओर पीला ही पीला दिखता है। शख यद्यपि श्वेत है परन्तु उसे पीला ही दिखलाता है। उसी प्रकार मिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्व और अनतानुबधी कषायका उदय होने से पयार्थ दूसरे रूप मे दिखलाई देता है।

एक मनुष्य था। उसे कामला रोग होगया। वह दवा लेन वैद्यके पास गया। वैद्यन उसे मोती भस्म दी और कहा दूधमे घोलकर इसे पीलेना। वह घरपर आया और मा से बोला' मा! एक गिलास दूध दे।' माने सोचा बेटा आज दवाई लाया है। एक स्वच्छ चादीके गिलासमे दूध भर कर दे दिया। उसने पुड़िया खोलकर उसमे डाल दी। जब वह पीने लगा तो उसे

पीला ही गिलास, पीला ही दूध और पीली ही भस्म दिखलाई दी तुरन्त ही उसने गिलासको जमीन पर पटक दिया और मां से झल्ला कर बोला 'क्या मा घरमे एक भी गिलास चादीका नहीं है यह दूध भी खराब लाकर रख दिया। वह वैद्य भी महा मूर्ख है जो उसने पीलीही दवाई दी ' ठीक यही हाल मिथ्यादृष्टिका होता है। वह शरीरके मरणमे अपना मरण, शरीरके जन्ममे अपना जन्म और शरीरकी स्थितिमे अपनी स्थिति मान लेता है। कदाचित् गुरुका उपदेश भी मिल जाय तो उसे विपरीत भासता है। इन्द्रियोंके सुखमे ही अपना सच्चा सुख समझता है। पुण्य भी करता है तो आगामी भोगोकी वाञ्छासे। ससारमे वह पूर्ण आसक्त रहता है और इसीलिए बहिरात्मा कहलाता है? मुझे यहा एक दृष्टान्त याद आगया —

प० मथुराप्रसादजी थे। उनके साथ दो तीन आदमी और कहीं चले जा रहे थे, तो रास्तेमे एक मुसलमान को कुरान पढ़ते हुए देखा। वहा और भी बहुतसी भीड़ लगी हुई थी। उस कुरानको सुननेके लिए मथुरादासजी वही ठहर गए। मुसलमान की बोली तनिक सुन्दर होती है। उनके साथियोंने मथुरादासजी से कहा —'अरे, यहा तो कुरान बच रहा है—चलो पण्डितजी यहा से तुरन्त चलो।' 'पण्डितजीने कहा—जरा ठहरो, थोड़ा बहुत कुरान सुनने दो। साथी बोले—'पण्डितजी! यहा तो कुरान बच रहा है।' पण्डितजीने कहा —'हा भाइ, मालूम है- बहुत अच्छा कहता है।' साथियोंने पुन प्रश्न किया—पण्डितजी

आपतो देवशास्त्र गुरूके आराधक है, फिर यह कैसी अनुमोदना करते हो।' 'अच्छा बाचता है' पण्डितजीने उत्तर दिया। अच्छा कहता है उन्होंने पूछा—कैसे, वह बोले—' अरे भाई तुम समझते नहीं हो, मिथ्यात्वके उदयमे ऐसाही होता है।

अत. मिथ्यात्वके समान इस जीवका कोई अहितकर नहीं। इसके समान कोई बड़ा पाप नहीं। यही तो कर्मरूपी जलके आनेका सबसे बड़ा छिद्र है जो नावको ससाररूपी नदीमें डुबोता है। इसीक ही प्रसादसे कर्तृत्व-बुद्धि होती है। इसलिए यदि मोक्षकी ओर रुचि है तो इस महान अनर्थकारी विपरीत बुद्धि को त्यागो। पदार्थोंका यथावत् श्रद्धान करो। देहमे आपा मानना ही देह धारण करनेका बीज है।

अब कहते हैं कि आत्मा स्वरूपसे f मल एव शुद्ध है। उसमे परकृत कोई रागादिक विकार नहीं। और देखो आचार्योंने चार द्रव्योंको तो शुद्ध-स्वरूप ही बतलाया है केवल जीव और पुद्गल मे विभाव परिणति कही है। वैभाविक परिणतिसे दोनोंका एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध भी हो रहा है पर यदि द्रव्यदृष्टिसे विचारो तो विदित हो जायगा कि जोबका एक अ श भी पुद्गलमे नहीं गया और पुद्गलका एक अंश भी जीवमें नहीं आया। जैसे एक वस्त्र है वह सूत और रेशमका बना हुआ है बाह्यमें वह अवश्य मिला हुआ एक वस्त्र दीख रहा है पर विचार करो तो उसमें सूत सूत है। इसी तरह रेशम रेशम ही है दोनों भिन्न भिन्न हैं। इसी तरह जीव और पुद्गल दोनो भिन्न द्रव्य है। जीवका परिणमन

जीवमे है और पुद्गलका परिणमन पुद्गलमे पुद्गलादि द्रव्य जीवका कुछ बिगाड या सुधार नहीं कर सकते। सब द्रव्य देखो स्वतंत्र हैं, केवल अन्धकारमे रज्जुमे सर्पका भान हो रहा है। और रज्जु कभी सर्प होती नहीं, यह भी सिद्धान्त है। वैसे ही हम अनादिसे अनात्माको आत्मा मान बैठे है, सो अनात्मा तो आत्मा होता नहीं। यही अनादिसे अज्ञानकी भूल पड़ी है। उस पदार्थको जैसेका तैसा जान ले तब समझो सम्यग्दृष्टि है। और भइया जिसने पदार्थको समझ लिया, उसके राग द्वेष होता नहीं। वह समझता हैकि मैं किससे राग द्वेष करूं। सब पदार्थ अपने अपने स्वभावसे परिणमन कर रहे है। आत्माका स्वभाव आत्मामे है वह दूसरी जगह है कहा? हा, उसमे जो रागद्वेषादि के विकल्प हैं, उन्हे हटाने का प्रयत्न है। जैसे गरम पानी है। उसके शीत गुणकी पर्याय उष्ण रूप है। तब उसे पुन. शीतल करनेके लिए एक बर्तनमे पसार कर पखे से हवा कर देते है तो ठंडा हो जाता है, क्योंकि शीतलता तो उसका स्वभाव ही है। वैसे ही ज्ञानादि गुणोंमे जो विकारी पर्याये रागद्वेषकी हो रही हैं उन्हे हटानेकी आवश्यकता है। हटने पर शुद्ध स्वरूप सहज ही होजायगा।

सचमुचमे सम्यक्त्वी रागद्वेषमय कलक आत्माको अपने विशुद्ध परिणामोंके जलसे धो डालता है वह अपने समान दूसरों को जानता है। अपने कल्याणका वह इच्छुक है। स्व-पर

उपकारमें तत्पर है—क्या वह दूसरोंका उपकार नहीं चाहेगा? राग-द्वेषसे बचना ही अपनी आत्माका सच्चा उपकार है। यही सम्यक्त्वीके लक्षण हैं। इसीसे तो सम्यक्त्वीकी पहिचान होती है। रामचन्द्रजी सम्यक्ज्ञानी थे। जब भइया! रावणके समस्त अस्त्र शस्त्र विफल हो चुके तब अन्तमें उसने महा शस्त्र चक्रका उपयोग लक्ष्मण पर किया, परन्तु श्री लक्ष्मणके प्रबल पुण्यसे वह चक्र उनके हाथमें आगया। उस समय श्री रामचन्द्र जी महाराजने अति सरल निष्कपट-मधुर परहित-रत वचनोंके द्वारा रावणको सम्बोधन कर यह कहा, कि हे रावण! अब भी कुछ नहीं गया, अपना चक्र रत्न वापिस ले लो, आपका राज्य है अतः सब ही वापिस लो। आपके भ्राता कुम्भकर्ण आदि तथा पुत्र मेघनाद जो हमारे यहां बन्दीरूप में हैं उन्हें वापिस ले जाओ। आपका जो भाई विभीषण हमारे पक्षमें आगया है उसे भी सहर्ष ले जाओ-केवल सीताको दे दो। जो नरसंहारादि तुम्हारे निमित्तसे हुआ है उसकी भी हम अब समालोचना नहीं करना चाहते। हम सीताको लेकर किसी वनमें कुटी बनाकर निवास करेंगे और तुम अपने राजमहलमें मन्दोदरी आदि पट्टरानियोंके साथ आनंदसे जीवन बिताओ। देखो कैसे सरल भाव हैं। और बताओ सम्यक्त्वी क्या भाव रखे? यही नहीं, जब रावण बहुरूपिणी विद्या सिद्ध कर रहा था तब किसीने आकर रामचन्द्रसे कहा—महाराज! वह तो विद्या सिद्ध कर रहा है। तब सरल परिणामी रामचन्द्र कहते हैं- सिद्ध करने दो, तुम उसकी सिद्धिमें क्यों किसी

प्रकारकी बाधा डालते हो ? और इससे ज्यादा सम्यक्त्वीके क्या भाव होंगे ? बताओ। धन्य है वह वीर आत्मा जिसने अपनी आत्मामें सम्यग्दर्शन पैदाकर अनत संसारकी सततिको छेद दिया है। वह अवश्यमेव मोक्षका पात्र है। ससारमे भी वही केवल सुखिया है।

कोई कहे कभी यह आत्मा शुद्ध था फिर अशुद्ध हुआ सो ऐसा नहीं है। कार्माण और तैजस शरीरोंका सयोग अनादिसे है, यद्यपि उनमें नए स्कंध मिलते हैं पुराने स्कध छूटते हैं। जैसे स्वर्ण पाषाण है। उसमे किट्टिका और कालिमा लगी हुई है और वह इसी तरह खादानमे से निकाला गया। अब वह (स्वर्ण) कबसे अशुद्धावस्था में है—यह कौन कह सकता है ? इसीतरह अनादिसे आत्मा अशुद्धावस्थामें है। यदि वह शुद्ध होता तो फिर ससार कैसा ? साख्यमतकी तरह आत्माको भी सर्वथा शुद्ध मत मानो। किन्तु आत्मा द्रव्यदृष्टिसे शुद्ध और पर्यायदृष्टिसे अशुद्ध है इसमे कोई विरोध नहीं। वर्तमान पर्याय उसकी अशुद्ध ही माननी पडेगी। इसलिए उस अशुद्धावस्थाको मेटने का प्रयत्न आवश्यक है। जैसे साटा (गन्ना) है। उसमे मिश्री उतने ही आकारमें विद्यमान है। पहिले उसका रस निकाला जाता है। फिर उसे गाढा कर शक्कर आदि करके मिश्री बनाते हैं। तो यह क्यों ? कितना उपद्रव करना पड़ता है। वैसे ही आत्मातो शुद्ध है ही, पर वर्तमान पर्याय अशुद्ध होनेके कारण

महाव्रत धरना, तपश्चरण आदि करना पड़ता है। कोई कहे कि आत्मा जब शुद्ध है तो रागादिक क्यों होते है? इसका उत्तर यह है कि रागादि होना आत्माका स्वभाव नहीं, विभाव है जो स्वभाव होता है वह कभी मिटता नहीं। पारिणामिकभाव जीवका सदा बना रहता है पर विभाव मिट जाता है। जैसे किसीने मदिरा पान किया तो पागल हो गया और अट सट बकने लगा। अब विचार करो कि क्या पागल होना उसका स्वभाव था? यदि स्वभाव था, तो वह सदा पागल क्यों नहीं बना रहता? और जब नशा उतर जाता है तब ज्योंका त्यों हो जाता है। इससे मालूम हुआ कि पागलपन उसका स्वभाव नहीं था, मदिराके निमित्तसे ही पागलपन हुआ है। वैसे ही जीवके रागादिभाव पुद्गलके निमित्त द्वारा होते हैं लेकिन उसके स्वभाव नहीं हैं। यदि स्वाभाविक होते तो सदा बने रहते। अत. मालूम पड़ता है कि वे औपाधिक है, विभाव हैं पराश्रित हैं, किन्तु पारिणामिक भाव सदा शाश्वत हैं इसलिए उपादेय है। क्रोधादिक परिणाम सब औदयिक है-कर्मोंके उदयसे होते है, अत. हेय है।

अध्यवसान भावही बंधका कारण है

अब कहते हैं कि अध्यवसान ही बंधका कारण है। बाहिरी क्रिया कोई बंधका कारण नहीं है पर अन्तरगमे जो विकारी भाव होते हैं वही बधके कारण हैं। इसका दृष्टात ऐसा है जैसे

किसीने किसी को मार डाला, तो मारनेसे बध नहीं हुआ पर अन्तरंगमें जो उसके मारनेके भाव हुए उससे बंध हुआ। कोई पूछे कि बाह्य वस्तु जब बधका कारण नहीं है तो उसका निषेध किस लिए किया जाता है कि बाह्य वस्तुका प्रसंग मत करो, त्याग करो। इसका समाधान यह है कि बंधका कारण निश्चय नयसे अध्यवसान ही है और बाह्य वस्तुए अध्यवसानका आलम्बन हैं उनकी सहायतासे अध्यवसान उत्पन्न होता है इसलिए अध्यवसान कारण कहा जाता है। बिना बाह्य वस्तुके अवलम्बनके निराश्रय अध्यवसान भाव नहीं उपजता। इसीसे बाह्य वस्तुका त्याग कराया गया है।

हम पदार्थोंका त्याग करना ही सच्चा त्याग समझने लेते हैं। वास्तवमे परपदार्थ हमारा है कहां जिसका हम त्याग करनेके हकदार कहलाते हैं, वह तो जुदा है। अतः पर-पदार्थका त्याग त्याग नहीं। सच्चा त्याग अन्तरंगकी मूर्छा है। हमने उस पदार्थसे अपनी मूर्छा हटाली तो उसका स्वतः त्याग होगया। अत' प्रवृत्तिकी ओर मत जाओ, निवृत्ति पर ध्यान दो। कोई कहता है कि हमने १००)रु० का दान कर दिया। अरे मूरख, १००) रुपये तुम्हारे हैं कहा, जो तुमने दान कर दिए। वे तो जुदे ही थे। अपनी तिजोड़ीसे निकालकर दानशालामे धर दिए। तो रुपयोंका त्याग करना दान देना नहीं हुआ, पर अन्तरंगमें जो तुम्हारी मूर्छा उन रुपयोके प्रति लगरही थी वह दूर हो गई। अत' मूर्छाका

त्याग करना वास्तविक त्याग कहलाया। कोई कहता है कि हमने इतने परिग्रहका त्याग कर दिया, अमुक परिग्रहका प्रमाण कर लिया तो क्या वह परिग्रहका प्रमाण हो गया ? नहीं परिग्रह-प्रमाणव्रत नहीं हुआ। परिग्रहप्रमाणव्रत तब हुआ जब तुम्हारी इच्छा उतनी कम हो गई। तुम्हारा मन जो दौड़ धूप कर रहा था अब उतन मन पर कन्ट्रोल होगया। उस पर विजय पा ली अतः इच्छा जितनी कम हुई उतना प्रमाण हुआ इसलिये त्याग कहलाया।

अब यह कहना कि 'मैं इसको जिलाता हूँ और इसको मारता हूँ' तो आचार्य कहते हैं कि यह मिथ्या अभिप्राय है। कोई किसीको मारता और जिलाता नहीं है। सब अपनी अपनी आयुसे जीवित रहते हैं और आयुके निषेक पूरे होनेसे मरणको प्राप्त होते हैं। आचार्य कहते हैं 'अरे क्या,तेरे हाथमे आयु है जो तू दूसरे को जिलाता तथा मारता है ? निश्चय नय कर जीवके मरण है वह अपने आयु कर्मके क्षयसे होता है। और अपना आयु कर्म अन्य कर हरा नहीं जा सकता। इसलिए अन्य अन्यका मरण कैसे कर सकता है ? इसी तरह जीवोंका जीवन भी अपने आयु कर्मके उदयसे ही है।

अब जिसका ऐसा मानना है कि मैं पर जीवको सुखी दुखी करता हूँ, और मुझे परजीव सुखी दुखी करते हैं, यह भी मानना अज्ञान है क्योंकि सुख दुख सब जीवोंका अपने कर्मके उदयसे

होता है, और वह कर्म अपने अपने परिणामोंसे उत्पन्न होता है। इस कारण एक दूसरेको सुख दुख कैसे दे सकता है? मैना सुन्दरी को ही देखो अपने पितासे स्पष्ट कह दिया कि मैं अपने भाग्यसे खाती हूँ। उसके पिताने श्रीपाल कुष्टीसे उसका विवाह कर दिया। पर मैनाने सिद्धचक्रका विधान रचकर उसका भी कोढ़ दूर कर दिया। पर विचार करो 'क्या उसने पतिका कोढ़ दूर किया? अरे, उसके पुण्यका उदय था कोढ़ दूर होगया। उसका निमित्त मिलना था सो मिल गया। पर क्या वह ऐसा नहीं जानती थी? अत: सब अपने भाग्यसे सुखी और दुखी हैं। समयसारमे लिखा है —

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय-
कर्मोदयान्मरणजीवितदु:ख-सौख्यम् ॥
अज्ञानमेतदिह यत्तु पर: परस्य।
कुर्यात् पुमान् मरणजीवितदु:ख-सौख्यम् ॥

इस लोकमे जीवोंके जो मरण, जीवन दु:ख सुख होते हैं वे सब स्वकीय कर्मोंके उदयसे होते हैं, ऐसा होने पर भी जो ऐसा मानते हैं कि परके द्वारा परके जीवन मरण दु:ख और सुख होते हैं— यह अज्ञान है।

कोई कहे कि 'मैं इसको मोचन करता हूँ और इसको बांधता हूँ' तो यह भी मिथ्या है। तुमने अपना अभिप्राय तो ऐसा कर

लिया कि 'एनं मोचयामि' मैं इसको मोचन करता हूँ, और 'एनं बन्धयामि' मैं इसको बाधता हूँ।' पर जिससे ऐसा कहा कि 'एनं मोचयामि' मैं इसको मोचन करता हूँ और उसने सरागपरिणाम करलिया तो कहा वह मुक्त हुआ? और जिसने ऐसा कहा कि 'एन बन्धयामि' मैं इसको बाधता हूँ उसने वीतराग परिणाम करलिए तो वह मुक्त होगया। और तुमने कुछ भी अभिप्राय नहीं किया। एकने सरागपरिणाम कर लिए और दूसरेने वीतराग भाव कर लिए, तो पहिला बन्ध गया और दूसरा मुक्त होगया। इसलिए यह बधन क्रिया और मोचन क्रिया तुम्हारे हाथकी बात नहीं है। तुम अपने पदार्थके स्वामी हो और पर-पदार्थ अपनेका है। तुम दूसरे पदार्थको अपनी इच्छानुकूल परिणमाना चाहो तो वह त्रिकालमें नहीं हो सकता। अतः 'एन मोचयामि' मैं इसको मोचन करता हूं और 'एन बन्धयामि' मैं इसको बाधता हूं ऐसा अभिमान करना व्यर्थ है और उससे उल्टा कर्मका बन्धन होता है। हाँ, तुम अपना अभिप्राय निर्मल रक्खो। दूसरा चाहे कुछभी अभिप्राय रक्खे। और देखो सब अभिप्राय की ही बात है। निर्मल अभिप्राय ही मोक्षमार्ग है। तुम पाठ पूजन खूब करो, पर अभिप्राय निर्मल नहीं तो कुछ नहीं। अब देखो तुम कहते हो न 'प्रभु पतित पावन।' अरे प्रभु थोड़े ही पावन हैं। तुमने उतने अशमें अपने अभिप्राय निर्मल कर लिए, तुमही पतितसे पावन होगए। प्रभु क्या पावन होंगे। तुमने प्रभुको

कारण बना लिया, पर कार्य हुआ तुममें। इसीलिए कविवर पं० दौलतरामजी अपनी स्तुतिमें लिखते हैं कि —

मुझ कारजके कारण सु आप।
सो करो हरो मम मोह ताप॥

और भइया! भगवान्की महिमाको कौन जान सकता है। भगवान्की महिमा भगवान् ही जाने। हम मोही जीव उनकी महिमाको क्या जान सकते हैं, तो प्रयोजनीय बात इतनी ही है कि परपदार्थ हमारी श्रद्धामें आ जाय कि ये हमारी चीज नहीं है तो फिर संसार बंधनसे छूटनेमें कोई बड़ी बात नहीं है। समझले रागद्वेषादिक परकृत विकार हैं, मेरे शुद्ध स्वभावको घातनेवाले हैं इसलिए छोड़नेका प्रयत्न करे। सम्यक्त्वीके यही श्रद्धान तो दृढ़ हो जाता है। वह जानता है कि मेरी आत्मा तो स्वच्छ स्फटिक समान है। ये जितनेभी औपाधिक भाव होते हैं, वे मोहके निमित्तसे होते हैं। अतः उन्हें छोड़नेका पूर्ण प्रयत्न करता है। हम लोग चारित्रके पालनमें आतुर हो जाते हैं। अरे, चारित्रमें क्या है, सबसे बड़ी श्रद्धा है। भगवान आदिनाथने ८३ लाख पूर्व गृहस्थीमें व्यतीत कर दिए। एक पुत्रको इस बगलमें बिठलाते रहे हैं दूसरेको दूसरी बगलमें। नाना प्रकारकी ज्योतिष और गणितविद्या भी बतलाते रहे हैं। यह सब क्या, परन्तु बन्धुओं! चरित्रमोहकी मदता हुई तो घर छोड़नेमें देर न लगी। तो हमें चारित्रमे इतना यत्न न करना चाहिए। चारित्र तो

कालान्तर पाकर हो ही जायगा। चारित्र पालनेमें उतनी बड़ाई नहीं है जितनी श्रद्धा लानेमे। श्रद्धामें अमोघ शक्ति है। यथार्थ श्रद्धा ही मोक्षमार्ग है। सम्यक्त्वीके श्रद्धाकी ही तो महिमा होती है वह परपदार्थोंका भोग नहीं करता सो बात नहीं है। पर श्रद्धासे जान जाता है कि 'अरे' यह तो पराई है।' अब देखिए लड़की जब पैदा होती है तब मा अन्तरंगमे जान ही तो जाती है कि यह पराई है। वह उसका पालन पोषण नहीं करती सो बात नहीं है वह पालती है, उसे बड़ा करती है, उसका विवाह भी रचाती है और जब पर-घर जानेको होती है तब रोती भी है चिल्लाती है और थोड़ी दूर तक साथ भी जाती है, पर कब तक ? यही हाल उसका होता है। वह भोग भोगता है, युद्ध करता है, अदालतमे मुकद्दमा भी लड़ता है पर कब तक ? और हम आपसे पूछते है, उसके काहेके भोग है ? बिल्ली चूहेको पकड़ लेती है और लाठी मारने पर भी नहीं छोड़ती, भोग तो वह कहलाते हैं। और हरिण मुखमें तृण लिए हुए है पर यों ताली फटकारी चौकड़ी भर कर भाग खड़ा हुआ तो वह काहे का भोग ? भोग तो वही है जिसमे आसक्ति हो, उसमे उपादेय बुद्धि हो। अब मुनिको ही देखो। क्या उनके स्त्री परीषह नहीं होती ? होती है, पर जैसी हमको होती है वैसी उनको नहीं है। क्या उनको क्षुधाका वेदन नहीं होता ? यदि वेदन नहीं होता तो आहार लेनेके वास्ते जाते ही क्यों है ? क्षुधाका वेदन होता है पर वह उस चालका नहीं

है। निरन्तराय भोजन मिला तो कर लिया नहीं तो वापिस लौट आते हैं। किसी कविने कहा है :—

अपराधिनि चत्क्रोध क्रोधे क्रोध' कथ न हि।
धर्मार्थकाममोक्षाणा चतुर्णां परिपन्थिनि॥

यदि अपराधी व्यक्ति पर क्रोध'करते हो तो सबसे बड़ा अपराधी क्रोध है, उसी पर क्रोध करना चाहिए, क्योंकि वह धर्म, अर्थ काम और मोक्षका शत्रु है। अच्छा बतलाओ किसपर तोष-रोष करे। हम जितनेभी पदार्थ संसार में देखते हैं, सब अचेतन ही तो हैं और चेतन है सो दिखता नहीं है। जैसे हमने तुम पर क्रोध किया, तो क्रोध जिस पर किया वह तो अचेतन है और जिसपर करना चाहते हो वह दिखता नहीं, अमूर्तिक है। अतः हमारी समझमे तो रागद्वेषादिक करना सब व्यर्थ है। अपना कल्याण करे, दुनियां को न दखे। जो दुनिया को तो शिक्षा करे और अपनी ओर न देखे तो उससे क्या लाभ? अरे, अनादि-काल से हमने परको बनानेकी कोशिश की है और फिरभी परको बनाने मे अपने को चतुर समझते हैं तो उस चतुराई को धिक्कार है जो दूसरोंको उपदेश करें, व अपने आत्माके हितका नाश करे। उस आंख से क्या लाभ, जिसके होतेहुएभी गड्ढे मे गिर पड़े उस ज्ञानसे भी क्या जो ज्ञानी होकर विषयोंके भीतर पड़ जावे। इसलिए केवल अपने को बनाए। जिसने अपनेको नहीं बनाया वह दूसरोंको भी क्या बना सकता है अपने को बनाना ही संसार बंधन से छूटने का प्रयास है। यही मोक्षकी कुंजी है।

एक धुनियां था। वह कहीं कामसे चला जा रहा था। मार्गमें उसने रूईसे भरे जहाजोंको आते हुए देख लिया। उसने सोचा 'हाय ! यह तो मुझे ही धुननी पड़ेगी !' ऐसा सोचते घरमे आकर वह बीमार पड़ गया। उसके लड़केने पूछा—पिता जी ! क्या बात हो गई ?' वह बोला—'कुछ नहीं ! वैसे ही तबियत खराब हो गई है।' लड़केने बहुत डाक्टरों और वैद्योंका इलाज करवाया पर वह अच्छा न हुआ। अन्तमें एक आदमीको मालूम पड़ा और उसने लड़केसे पूछा—'तेरे पिताजीकी कैसी तबियत है ?' वह बोला—कुछ नहीं, उन्हों ने कहीं रूईसे भरे हुए जहाजोंको देख लिया है, इस कारण बीमार पड़ गए हैं। उस आदमी ने सोचा कि अरे वह धुनिया तो है ही, शायद उसने समझा होगा कि यह रूई कहीं मुझे न धुननी पड़े। वह (प्रकट में) बोला—देखो, हम तुम्हारे पिताजीको अच्छा कर देंगे लेकिन १००) रूपये लेंगे। लड़केने मंजूर कर लिया।

उस आदमीने उसी समय उसके घर जाकर एक गिलास पानी लिया और कुछ मंत्र पढ़कर कुछ राख डालकर धुनियां से बोला इस गिलास का पानी पी जाओ। उस धुनिए ने वैसा ही किया और वह पानी पी लिया। तब वह आदमी बोला—'देखो' उन रूईसे भरे हुए जहाजोंमें आग लग गई।' इतना कहना था कि वह (धुनिया) झट बोल उठा—'क्या सचमुच उन जहाजोंमें आग लग गई।' उसने कहा—'हां'। तुरन्त ही वह भला-चंगा हो गया। इसी प्रकार हम भी परपदार्थोंको लक्ष्य कर यह सोच रहे

हैं कि हमें यह करना है और वह करना है—इस कारण रोगी बने हुये हैं। और जब अपने स्वरूप पर दृष्टिपात करते हैं तो हमे कुछ नहीं करना है। केवल अपने पदको पहचानना है।

आत्माका ज्ञान स्वभाव

अब बतलाते है कि आत्माका ज्ञानस्वभाव लक्षण है। लक्षण वही जो लक्ष्यमे पाया जावे। तो आत्माका लक्षण ज्ञान ही है जिससे लक्ष्य आत्माकी सिद्धि होती है। वैसे तो आत्मामें अनंत-गुण हैं जैसे दर्शन, चरित्र, वीर्य, सुख इत्यादि पर इन सब गुणोंको बतलाने वाला कौन है? एक ज्ञान ही है। मैं धनी, निर्धन, रक, राव, मनुष्य, स्त्री इनको कौन जानता है? केवल एक ज्ञान। ज्ञान ही आत्माका असाधारण लक्षण है। दोनों (आत्मा और ज्ञान) के प्रदेशोंमे अभेदपना है। ज्ञानीजन ज्ञानमें ही लीन रहते और परमानन्दका अनुभव करते हैं। वह अन्यत्र नहीं भटकते। और परमार्थसे विचारो तो केवल ज्ञानके सिवाय अपना है क्या? हम पदार्थोंका भोग करते हैं, व्यंज-नादिके स्वाद लेत है उसमे ज्ञानका ही तो परिणमन होता है। यदि ज्ञानोपयोग हमारा दूसरी ओर होयतो सुन्दरसे सुन्दर विषय सामग्री भी हमको नहीं सुहावे। तो उस ज्ञानकी अद्भुत महिमा है। वह कैसा है? दर्पणवत् निर्मल है। जैस दर्पणमे दपार्थ प्रतिबिम्बित होते है? वैसे ही ज्ञानमे ज्ञेय स्वयंमेव झलकते हैं

तो भी ज्ञानमें उन ज्ञेयोंका प्रवेश नहीं होता। अब देखो, दर्पण के सामने शेर गुंजार करता है तो क्या शेर दर्पण में चला जाता है ? नहीं, केवल दर्पणका परिणमन शेर के आकार अवश्य हो जाता है। दर्पण अपनी जगह पर है,शेर अपने स्थान पर है। उसी तरह ज्ञान मे ज्ञेय झलकते हैं तो झलको उसका स्वभाव ही देखना और जानना है इस का कोई क्या करे ? हां रागादिक करना यही बंधका जनक है। हम इन को देखते हैं उन को देखते है और सबको देखते है तो देखो पर अमुक रुचि गया उससे राग और अमुकसे अरुचि हुई उससे द्वेष कर लिया यह कहा का न्याय है ? बताओ। अरे उस ज्ञान का काम केवल देखना और जानना मात्र था, सो देख लिया और जान लिया। चलो छुट्टी पाई। ज्ञानको ज्ञान रहने देनेका उपदेश है। उस मे कोई प्रकार की इष्टानिष्ट कल्पना करने को नहीं कहा। पर हम लोग ज्ञान को ज्ञान कहां रहने देते है, मुश्किल तो यह पड़ी है।

भगवान् को देखो और जाओ। यदि उनसे राग कर लिया तो जाओ स्वर्गमे और द्वेषकर लिया तो पड़ो नरकमे। इससे मध्यस्थ रहो। उन्हे देखो और जानो। जैसे प्रदर्शनीमे वस्तुएं केवल देखने और जानने के लिए होती हैं वैसे ही संसारके पदार्थ भी केवल देखने और जानने के लिए है। प्रदर्शनीमे यदि एक भी वस्तुकी चोरी करो तो बंधना पड़ता है उसी प्रकार संसारके

पदार्थोंका ग्रहण करनेकी अभिलाषा करो तो बंधन है; अन्यथा देखो और जानो। अभी स्त्री बीमार पड़ी है तो उसके मोहमें व्याकुल होगए। दवाई लानेकी चिन्ता होगई, क्योंकि उसे अपनी मानलिया, नहीं तो देखो और जानो। निजत्वकी कल्पना करना ही दुःखका कारण है।

'समयसार' मे एक शिष्यने आचार्यसे प्रश्न किया-महाराज! यदि आत्मा ज्ञानी है तो उपदेश देनेकी आवश्यकता नहीं और अज्ञानी है तो उसे उपदेशकी आवश्यकता नहीं। आचार्यने कहा कि जब तक कर्म और नोकर्मको अपनाते रहोगे अर्थात् पराश्रित बुद्धि रहेगी तब तक तुम अज्ञानी हो और जब स्वाश्रित बुद्धि हो जायगी तभी तुम ज्ञानी हो।

एक मनुष्यके यहाँ दामाद और उसका लड़का आता है। लड़का तो स्वेच्छासे इधर उधर पर्यटन करता है। परन्तु दामादका यद्यपि अत्यधिक आदर होता है तब भी वह सिकुड़ा सिकुड़ा सा घूमता है। अतएव स्वाश्रित बुद्धि ही कल्याणप्रद है। आचार्यने वही एक शुद्धज्ञान-स्वरूपमे लीन रहनेका उपदेश दिया है। जैसा कि नाटक समयसारमें लिखा है:—

पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा बोद्धा न बोध्यादयं,
यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीपः प्रकाश्यादिव।
तद्वस्तुस्थितिबोधवन्ध्यधिषणा एते किमज्ञानिनो,
रागद्वेषमया भवंति सहजा मुञ्चन्त्युदासीनताम् ॥२४॥

यह ज्ञानी पूर्ण एक अच्युत शुद्ध (विकारसे रहित) ऐसे ज्ञानस्वरूप जिसकी महिमा है ऐसा है। ऐसा ज्ञानी ज्ञेय पदार्थोंसे कुछभी विकारको नहीं प्राप्त होता। जैसे दीपक प्रकाशने योग्य घटपटादि पदार्थोंसे विकारको नहीं प्राप्त होता उसी तरह। ऐसी वस्तुकी मर्यादाके ज्ञानकर रहित जिनकी बुद्धि है ऐसे अज्ञानी जीव अपनी स्वाभाविक उदासीनता को क्यों छोड़ते है और रागद्वेषमय क्यों होते हैं? ऐसा आचार्यने सोच किया है।

कुछ लोग ज्ञानावरणी कर्मके उदयको अपना घातक मान दुखी होते हैं। तो कहते हैं कि कर्मके उदयमे दुखी होनेकी आवश्यकता नहीं है। अरे जितना क्षयोपशम है उसीमें आनंद मानो। पर हम मानते कहा है? सर्वज्ञता लानेका प्रयास जो करते हैं। अब हम आपसे पूछते हैं, सर्वज्ञता में क्या है? हमने इतना देख लिया और जानलिया तो हमें कौनसा सुख हो गया? तो देखने और जाननेमे सुख नहीं है। सुखका कारण उनमें रागादिक न होने देना है। सर्वज्ञ भी देखो अनन्त पदार्थोंको देखते और जानते हैं पर रागादिक नहीं करते, इसलिये पूर्ण सुखी हैं। अत देखने और जाननेकी महिमा नहीं है। महिमा तो रागादिकके अभावमें ही है।

लेकिन हम चाहते हैं कि रागादिक छोड़ना न पड़े और उस सुखका अनुभव भी हो जावे तो यह कैसे बने? मूली खाओ और केशरका स्वाद भी आजाय, यह कैसे हो सकता है? रागादिक तो दुखके ही कारण है, उनमें यदि सुख चाहो तो कैसे

मिल सकता है ? राग तो सर्वथा हेय ही है। अनादिकालसे हमने आत्माके उस स्वाभाविक सुखका स्वाद नहीं जाना, इसलिए रागके द्वारा उत्पन्न किंचित् सुखको ही वास्तविक सुख समझ लिया। आचार्य कहते हैं कि अरे उस सुखका कुछ तो अनुभव करो। अब देखो, कडुवी दवाको मा कहती है न 'बेटा इसे आख मींच कर पी जाओ।' अरे, आख मींचनेसे कहीं कडुवा-पन तो नहीं मिट जायगा ? पर कहती है कि बेटा पी जाओ। वैसे ही उस सुखका किञ्चित् भी तो अनुभव करो। पर हम चाहते हैं कि बच्चोंसे मोह छोड़ना न पड़े और उस सुखका अनुभव भी हो जाय। 'हल्दी लगे न फिटकरी रग चोखा आ जाय।' अच्छा, बच्चोंसे मोह मत छोड़ो तो उस स्वात्मीक सुख-का तो घात मत करो। पर क्या है उधर दृष्टि नहीं देते इसीलिए दु खके पात्र हैं।

और भइया ! ऐसी बात नहीं है कि किसीके रागादिक घटते न होंय। अभी ससारमें ऐसे प्राणी हैं जो रागादिक छोड़नेका शक्ति भर प्रयास करते है। पर सिद्धान्त यही कहता है कि रागा-दिक छोड़ना ही सर्वस्व है। जिसने इन्हें दुःखदाई समझकर त्याग दिया, वही हमतो कहते हैं 'धन्य है'। कहने सुननेसे क्या होता है ? इतने जनोंने शास्त्र श्रवण किया तो क्या सबके रागा-दिकोंकी निवृत्ति होगई ? अब देखो आल्हा ऊदलकी कथा बाचते हैं तो वहा कहते है यों मारा, यों काटा पर यहा किसीके एक

समाचा तक नहीं लगा। तो केवल कहनेसे कुछ नहीं होता। जिसने रागादिक त्याग दिए बस उसीको मजा है। जैसे कंदोई (हलवाई) मिठाई तो बनाता है पर उनके स्वादको नहीं जानता। वैसेही शास्त्र बांचना तो मिठाई बनाना है पर जिसने चख लिया बस उसी को मजा है।

आत्माका आवृत स्वरूप

अब कहते है कि आत्मामे अनन्तशक्ति तिरोभूत है। जैसे सूर्यका प्रकाश मेघपटलोंसे आच्छादित होने पर अप्रकट रहता है वैसे ही कर्मोंके आवरणसे आत्माकी अनंत शक्तिया प्रकट नहीं होतीं। जिस समय आवरण हट जाते हैं उसी समय वे शक्तियाँ पूर्णरूपेण विकसित होजाती हैं। देखो, निगोदसे आकर मनुष्य पर्याय धारण कर मुक्तिके पात्र बने, इससे आत्माकी अचिन्त्य शक्ति ही तो विदित होती है अत हमें उस [आत्मा] को जाननेका अवश्यमेव प्रयत्न करना चाहिये। जैसे बालक मिट्टीके खिलोने बनाते और फिर बिगाड़ देते है वैसे ही हम ही ने ससार बनाया और हम ही यदि चाहे तो संसारसे मुक्त हो सकते हैं। एक स्थान पर लिखा है.—

संकल्पकल्पतरुसश्रयणात्त्वदीयं,
चेतो निमज्जति मनोरथसागरेस्मिन्।
तत्रार्थस्तव चकास्ति न किञ्चनापि।
पक्षे पर भवसि कल्मषसश्रयस्य॥

हम नाना प्रकारके मनोरथ करते हैं। अरे, उनमेंसे एक मनोरथ मुक्तिका भी सही। वास्तवमें हमारे सब मनोरथ बालूकी भींतिके भांति ढह जाते हैं, यह सब मोहोदयकी विचित्रता है। जहा मोह गला वहा कोई मनोरथ नहीं रह जाता। हम रात्रि दिन पापाचार करते हैं और भगवान्से प्रार्थना करते हैं कि भगवान् हमारे पाप क्षमा करना। अरे, भगवान तुम्हारे पाप क्षमा करे। पाप करो तुम, क्षमा करें भगवान–यह भी कहीं का न्याय है? कोई पाप करे और कोई क्षमा करे। उसका फल भइया तुमहीको भुगतना पड़ेगा। भगवान तुम्हे कोई मुक्ति नहीं पहुचा देगे। मुक्ति जाओगे तुम अपने पुरुषार्थ द्वारा। यदि विचार किया जाय तो मनुष्य स्वय ही कल्याण कर सकता है।

एक पुरुष था उसकी स्त्रीका अकस्मात् देहान्त हो गया। वह बड़ा दु खी हुआ। एक आदमीने उससे कहा अरे, 'बहुतोंकी स्त्रिया मरती हैं, तू इतना बेचैन क्यों होता है? वह बोला तुम समझते नहीं हो। उसमें मेरी मम बुद्धि लगी है इसलिए मैं दु खी हू दुनियाकी स्त्रिया मरती है तो उनसे मेरा ममत्व नहीं,–इसहीमे मेरा ममत्व था। उसी समय दूसरा बोला 'अरे, तुझमें जब अहबुद्धि है तभी तो मम बुद्धि करता है। यदि तेरेमें अहं बुद्धि न हो तो ममबुद्धि किससे करे? अहबुद्धि और ममबुद्धि को मिटाओ, पर अहबुद्धि और ममबुद्धि जिसमें होती है, उसे तो जानो। दुखी लोकमे वह मनुष्य मूख माना जाता है जो

अपना नाम, अपने गावका नाम, अपने व्यवसायका नाम न जानता हो उसी तरह परमार्थसे वह मनुष्य मूर्ख है जो अपने आपको न जानता हो। इसलिए अपनेको जानो। तुम हो जभी तो सारा ससार है। आख मीचलो तो कुछ नहीं। एक आदमी मर जाता है तो केवल शरीर ही तो पड़ा रह जाता है और फिर पञ्चेन्द्रिया अपने अपने विषयोंमें क्यों नहीं प्रवर्तती ? इससे मालूम पड़ता है कि उस आत्मामें एक चेतनाका ही चमत्कार है। इस चेतनाको जाने बिना तुम्हारे सारे कार्य व्यर्थ हैं।

मोहमे ही इन सबको हम अपना मानते हैं। एक मनुष्यने अपनी स्त्रीसे कहा कि अच्छा बढ़िया भोजन बनाओ हम अभी खानेको आते हैं। ज़रा बाजार हो आएं। अब मार्गमें चले तो वहा मुनिराजका समागम होगया। उपदेश पाते ही वह भी मुनि हो गया। और वही मुनि बनकर आहारके वास्ते वहाँ आगया। तो देखो उस समय कैसा अभिप्राय था अब कैसे भाव हो गए चक्रवर्तीको ही देखो। वह छ खडको मोहमे ही तो पकडे है। जब वैराग्य उदय होता है तो सारी विभूतिको छोड़ बनवासी बन जाता है। तो देखो उस इच्छाको ही तो वह मिटा देता है कि 'इदम् मम' यह मेरी है। वह इच्छा मिट गई अब छ खडको बताओ कौन सभाले ? जब ममत्व ही न रहा तब उसका क्या करे ? इच्छाको घटाना ही सर्वस्व है। दान भी यदि इच्छा करके दिया तो बेवकूफी है। समझो यह हमारी चीज ही नहीं है। तुम कदाचित यह जानते हो कि यदि हम दान न देवे ता इसे कौन

दे ? अरे उसके पुण्यका उदय होयगा तो दूसरा दान दे देगा फिर ममत्व बुद्धि रखके क्यों दान देता है ? वास्तवमें तो कोई किसी की चीज नहीं है । व्यर्थ ही अभिमान करता है । अभिमानको मिटा करके अपनी चीज मानना महाबुद्धिमत्ता है । कौन बुद्धि-मान दूसरेकी चीज़को अपनी मानकर कब तक सुखी रह सकता है ? जो चीज तुम्हारी है उसीमें सुख मानो ।

महादेवजीके कार्तिकेय और गणेश नामक दो पुत्र थे । एक दिन महादेवजीने उनसे कहा, 'जाओ, वसुन्धराकी परिक्रमा कर आओ' । तब कार्तिकेय और गणेश दोनों हाथ पकड़ कर दौड़े । गणेशजी तो पीछे रह गए और कार्तिकेय बहुत आगे चले गए । गणेशजीने यहीं पर महादेवजीकी ही परिक्रमा कर ली । जब कार्तिकेय लौटे और महादेवजी ने गणेशजीकी ओर संकेत कर कहा यह 'पहिले आए' तो कार्तिकेयने पूछा 'यह पहिले कैसे आए ? बताइए ।' उसी समय उन्होंने अपना मुह फाड़ दिया जिसमें तीनों लोक दिखने लगे । महादेवजी बोले 'देखो इन्होंन तीनों लोकोंकी परिक्रमा करली ।' तो भइया उस केवलज्ञानकी इतनी बड़ी महिमा है कि जिसमें तीनों लोकोंकी चराचर वस्तुएं भासमान होने लगती हैं । हाथीके पैरमें बताओ किसका पैर नहीं समाता —ऊंटका घोड़ेका सबोंका पैर समा जाता है । अतः उस ज्ञानकी बड़ी शक्ति है । और वह ज्ञान तभी पैदा होता है जब हम अपनेको जानें । पर पदार्थोंसे अपनी चित्तवृत्तिको

हटाकर अपनेमें संयोजित करें। देखो समुद्रसे मानसून उठते हैं और बादल बनकर पानीके रूपमें बरस पड़ते हैं। तो पानीका यह स्वभाव होता है कि वह नीचेकी ओर ढलता है। पानी जब बरसा तो देखो रावी चिनाब झेलम सतलज होता हुआ फिर उसी समुद्रमें आ गिरता है। उसी प्रकार आत्मा मोहमें जो यत्र तत्र चतुर्दिक भ्रमण कर रही थी ज्योंहीं वह मोह मिटा तो वही आत्मा अपनेमे सिकुड़कर अपनेमे ही समा जाती हैं। यों ही केवल ज्ञान होता है। ज्ञानको सब परपदार्थोंसे हटाकर अपनेमे ही संयोजित कर दिया—बस केवल ज्ञान हो गया। और क्या है?

हम पर-पदार्थोंमे सुख मानते हैं। पर उसमें सच्चा सुख नहीं है। मड़ावराकी बात है। वहांसे ललितपुर ३६ कोसकी दूरी पर पड़ता है। वहां सर्दी बहुत पड़ती है। एक समय कुछ यात्री जा रहे थे। जब बीचमें उन्हे अधिक सर्दी मालूम हुई तो उन लोगोंने जंगलसे घास फूस इकट्ठा किया और उसमें दियासलाई लगा आंचसे तापने लगे। ऊपर वृक्षों पर बन्दर बैठे हुए यह कौतुक देखरहे थे। जब वे यात्री लोग चले गए तो बन्दर ऊपरसे उतरे और उन्होंने वैसा ही घास फूस इकठा कर लिया। अब कुछ घिसनेको चाहिए तो दियासलाई की जगह वे जुगनको पकड़ लाए और घिसकर डाल दें पर आंच नहीं सुलगे। बार बार वे उन्हे पकड़कर लाए और फिर घिसकर डाल दे पर आंच सुलगे तो कैसे सुलगे। इसी तरह पर- पदार्थोंमे सुख मिले तो कैसे मिले? वहां तो आकुलता ही मिलेगी और आकुलतामे सुख

कहां ? तुम्हें आकुलता हुई कि चलो मन्दिरमें पूजा करें और फिर शास्त्र श्रवण करें। तो जब तक तुम पूजा करके शास्त्र नहीं सुन लोगे तब तक तुम्हे सुख नहीं है; क्योंकि आकुलता लगी है। उसी आकुलताको मिटानेके लिए तुम्हारा सारा परिश्रम है। तुम्हे दुकान खोलनेकी आकुलता हुई। दुकान खोल ली चलो आकुलता मिट गई। तुम्हारे जितने भी कार्य हैं सब आकुलताको मेटनेके लाने हैं। तो आकुलतामें सुख नहीं। आत्माका सुख निराकुल है वह कहीं नहीं है, अपनी आत्मामे ही विद्यमान हैं। एक क्षण परपदार्थोंसे रागद्वेष हटाकर देखो तो तुम्हे आत्मामे निराकुल सुख प्रकट होगा। यह नहीं, अब कार्य करे और फल बादको मिले। जिस क्षण तुम्हारे वीतराग भाव होंगे तत्क्षण तुम्हें सुखकी प्राप्ति होगी। आत्माकी विलक्षण महिमा है। कहना तो सरल है पर जिसने प्राप्त कर लिया वही धन्य है। और जितना पढ़ना लिखना है उसी आत्माको पहिचाननेके अर्थ है। कहीं किताबोंसे भी ज्ञान प्राप्त होता है ? ज्ञान तुम्हारी आत्मामें है। पुस्तकोंका निमित्त पाकर वह विकसित हो जाता है। वैराग्य कहीं नही धरा ? तुम्हारी आत्मामें ही विद्यमान है। अतः जैसे बने वैसे उस आत्माको पहिचानो।

एक कोली था। उसे कहींसे एक पाजामा मिल गया। उसने पाजामा कभी पहिना तो था नहीं। वह कभी सिरसे उसे पहिनता तो ठीक नहीं बैठता। कभी कमरसे लपेट लेता तो भी ठीक नहीं

बैठता। एक दिन उसने ज्योंही एक पैर एक पाजामेमें और दूसरा पैर दूसरेमें डाला तो ठीक बैठ गया। बड़ा खुश हुआ। इसी तरह हम भी इतस्तत भ्रमण कर दुखी हो रहे हैं। पर जिस काल हमें अपने स्वरूपका ज्ञान होता है तभी हमें सच्चे सुखकी प्राप्ति होती है। इसलिए उसकी प्राप्तिका निरन्तर प्रयास करना चाहिए।

रागादिक ही दुःखके कारण हैं

अब कहते हैं कि आत्माको रागादिक परिणाम ही दुःखदायी हैं। रागका किंचित सद्भाव भी मनुष्यके लिए अहितकर है। जैसा कि लिखा है —

"परमाणु मित्तयं पिहु रायादीण तु विज्जदे जस्स।
णवि सो जाणदि अप्पा-णाय तु सव्वागमधरो वि ॥२०१॥
यस्य रागाद्यज्ञानभावाना लेशतोऽपि विद्यते सद्भाव: सश्रुत-केवलिसदृशोऽपि तथापि ज्ञानमयभावानामभावेन न जानात्या-त्मानं यस्त्वात्मान न जानाति सोऽनात्मानमपि न जानाति स्वरूप-पररूपसत्तासत्ताभ्यामेकस्य वस्तुनो निश्चीयमानत्वात्।"

जिस जीवके राग आदि अज्ञानभावका लेशमात्र भी सद्भाव है वह श्रुतकेवलीके सदृश भी ज्ञानी है तो भी ज्ञानमय भावके अभावसे आत्माको नहीं जानता है। और जो आत्माको नहीं जानता वह अनात्मा (पर) को नहीं जानता है, क्योंकि अपने और परके स्वरूपका सत्व असत्व दोनों एक ही वस्तुके निश्चय में आ जाते है।

लोग कहते हैं कि नरकोंमें इतने बड़े दुःख हैं, वहांके समान दुःख और कहीं नहीं पर यह तो परोक्षकी बात हुई। हम तो कहते हैं कि प्रत्यक्ष ही राग दुःखका कारण है। हम सब दुखी हो रहे हैं केवल एक रागसे ही। अभी सब पदार्थोंसे राग हटालो तो उसी क्षण हमें सुखका अनुभव हो जायगा। स्वर्गोंमे हम सुखकी कल्पना करते हैं पर वर्तमानमें ही यदि रागकी मंदता हो तो सुख का अनुभव होजाय। तो भइया! अपनी ओर दृष्टिपात करो और विचार करो कि हममें कितना राग कम हुआ। दुनिया की ओर मत देखो। अपनेको आकुलता होती है तो दुनियाको आकुलित देखते है। भगवानके कोई प्रकारकी आकुलता नहीं उन्होंने अपनेको बनाया। इसलिए दुनियासे उन्हें कोई सरोकार नहीं। अपना स्वभाव सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमय है। मोक्षार्थीको केवल उन्हींका सेवन करना चाहिये। तदुक्त —

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मनः ।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥

मोहमें मनुष्य पागल हो जाता है। इसके नशेमें यह जीव क्या क्या उपहासास्पद कार्य नहीं करता? देखिए, जब आदि-नाथ भगवान् ने ८३ लाख पूर्व गृहस्थी में रहकर विता दिए तब इन्द्रने विचार किया कि किसी प्रकार प्रभुको भोगोंसे विरक्त करना चाहिए जिससे अनेक भव्य प्राणियोंका कल्याण होय। इस कारण उसने एक नीलाञ्जना अप्सरा—जिसकी आयु बहुत ही अल्प

थी—सभामें नृत्य करनेके वास्ते खड़ी करदी। ज्योंही वह अप्सरा नृत्य करते करते विलय गई त्योंही इन्द्रने तुरन्त उसी वेश-भूषा की दूसरी अप्सरा खडी करदी ताकि प्रभुके भोगोंमे किसी प्रकार की बाधा न पहुँचे। परन्तु भगवान तीन ज्ञान सयुक्त तुरन्त उसी दृश्यको ताड़ गए और मनमे उसी अवसरपर वैराग्यका चिन्तवन करने लगे कि धिक्कार है इस दु खमय ससार को, जिसमें रहकर मनुष्य भोगोंमे बेसुध होकर किस प्रकार अपनी स्वल्प आयु व्यर्थ व्यतीत करदेता है। इतना चिन्तवन करना था कि उसी समय लौकान्तिक देव (वैराग्यमे सने हुए जीव) आए और प्रभुके वैराग्यको दृढताके हेतु स्तुति करते हुये बोले हे प्रभु! धन्य हैं आप आपने यह अच्छा विचार किया। आप जयवत होउ। हे त्रिलो-की नाथ! आप चरितमोहके उपशमतैं वैराग्यरूप भए हो। आप धन्य हो। इस प्रकार स्तवन कर वे लौकान्तिक देव तो अपने स्थानको चले गए, परन्तु मोही इन्द्र फिर प्रभुको आभूषण पहिनाने लगा और पालकी सजाने लगा। अरे, जब विरक्त कर-वानेका ही उसका विचार था तो फिर आभूषणोंके पहिनानेको क्या आवश्यकता थी। विरक्त करवाता जारहा है और आभू-षणभी पहिनाता जा रहा है। यह भी क्या न्याय है ? पर मोही जीव बताओ, भइया! क्या करे। मोहमे तो मोहकी सी बाते सूझती हैं। उसमें ऐसा ही होता है।

वास्तवमे यदि देखा जाय तो विदित हो जायगा कि जगतका चक्र केवल एक मोहके द्वारा घूम रहा है। यदि मोह क्षीण हो

जाय तो आज ही जगतका अन्त आ जाय। इसका दृष्टान्त ऐसा है जैसे रेहटकी चक्की। एक आठ पहियोंकी चक्की होती है। उसको खींचने वाले दो बैल होते हैं और उनको चलाने वाला मनुष्य होता है। उसी तरह मनुष्य है मोह। वे दोनों बैल हैं राग द्वेष। उससे यह अष्ट-कर्मोंका संसार है जिससे चतुर्गतिरूप समारमे यह प्राणी भटकता है।

एक मनुष्य था। वह किसी तेली का हंडा सिर पर लादे हुए उसके साथ चला जारहा था। मार्गमें वह सोचता जाता था कि इन पैसोंमे से एक मुर्गी मोल लूंगा। मुर्गीसे होंगे बच्चे, उन्हे वेचकर फिर एक बकरी खरीदूंगा उस बकरीसे जो बच्चे होंगे, उन्हे बेचकर एक गाय क्रय करूंगा। गायसे भी जो बच्चे होंगे उन्हे बेचकर फिर मैं अपनी शादी कर लूंगा। तदनन्तर एक मकान खरीदूंगा और उसमे आरामसे जीवन विताऊंगा। कालान्तर मे मेरे भी बच्चे होंगे और वे परस्पर खूब खेलेंगे, कदाचित् झगडेंगे भी। झगड़ते झगड़ते जब वे मेरे पास आवेंगे तो मैं उनके यों तमाचा लगाउंगा। हाथका उठाना हुआ कि मटकीका झट गिरना हुआ। उसी समय तेली कहने लगा 'क्योंजी! तुमने हमारी मटकी फोड़ डाली।' तब वह क्रोधमें बोल उठा-'तुम्हारी मटकी फूटी तो क्या हुआ, यहा तो सारी गृहस्थी नष्ट होगई। यों मनुष्य शेखचिल्ली सी नाना प्रकारकी कल्पनाएं किया करता है। यह सब मोहके उदयकी बलवत्ता है। जहा मोह नहीं है वहां एक भी मनोरथ नहीं रह जाता। अत 'मोहकी कथा अकथनी

और शक्ति अजेय है। पर पदार्थमें कर्तृत्वबुद्धि रखना अज्ञान है।

अब कहते हैं कि मनुष्यको पर-पदार्थोंमें कर्तृत्वबुद्धि नहीं रखनी चाहिये। कर्तापनेमें बड़ा दोष है। जब तक इस जीवके अहंकार (कर्तापने) की बुद्धि रहती है तब तक यह अज्ञानी है, अप्रतिबुद्ध है। इसकी प्रवृत्तिसे बंध है तथा उसकी संतानसे अज्ञान है। मैं मैं करती हुई बेचारी बकरी वधावस्थाको प्राप्त होती है और मैना राजाओंके करों द्वारा पाली जाती है। तो अज्ञानतामे बड़ी भूल है। एक मनुष्य अज्ञानी गुरूके उपदेशसे छोटेसे भोंहरे मे बैठके भैंसेका ध्यान करन लगा और अपनेको भैंसा मानकर दीर्घ शरीरक चितवनमें आकाशपर्यंत सींगोंवाला बन गया, तब इस चिंतामे पड़ा कि भोंहरे मे से मेरा इतना बड़ा शरीर किस प्रकार निकल सकेगा? ठीक यही दशा जीवकी अज्ञानके निमित्तसे होती है जो आपको वर्णादिस्वरूप मानकर देवादिक पर्यायोंमे आपा मानता है। भैंसा मानने वाला यदि अपनेको भैंसा न माने तो आखिर मनुष्य बना ही है। इसीप्रकार देवादिक पर्यायोंको भी जीव यदि आपा न माने तो अमूर्तीक शुद्धात्मा आप बना ही है। तदुक्तम्—

"वर्णाद्या वा राग मोहादयो वाभिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंस"

इसपुरुष अर्थात् आत्माके वर्णादि रागादिक अथवा मोहादि सर्व ही भाव (आत्मासे) भिन्न हैं।

अत आत्माका कर्तृत्व स्वभाव नहीं। आत्मामे कर्तापना

नहीं है सो बात नहीं है। कर्तापना है, पर उसका स्वभाव नहीं है। अज्ञानसे कर्तापनेकी बुद्धि हो जाती है। जब ज्ञानी हो जाता है तब साक्षात् अकर्ता है। वह जानता है अन्य द्रव्यका अन्य द्रव्य कर्ता नहीं है। सब अपने अपने स्वभावके कर्ता हैं। देखिए कुम्हार घडेको बनाता है। हम आपसे पूछते हैं—कुम्हारने घड़ेमे क्या करदिया ? मिट्टीमे घड़े बननेकी योग्यता थी तभी तो कुम्हार निमित्त हुआ। यदि मिट्टीमे योग्यता न हो तो देखे बालूमे मे तो घडा बनजाय। इससे सिद्ध होता है कि मिट्टीमे ही घड़ा बननेकी योग्यता थी तभी घड़ेकी शकल बनी। तो हम लोग उपादानकी ओर दृष्टिपात न करे केवल निमित्तोंको देखतेहैं सो यह अज्ञान है।

अब देखिए, स्त्री ने यों आटा गूंदा, उसकी लोई बनाई और लोईको लेकर चकले पर बेल दिया। विस्तार हुआ तो उस लोईमे उस स्त्री के हाथमे से क्या चला गया ? उसने केवल इधर उधर हाथ अवश्य कर दिए। तो इससे सिद्ध होता है कि रोटीका परिणमन रोटीमे हुआ और स्त्रीका परिणमन स्त्रीमे। स्त्रीने रोटी में कुछ नहीं कर दिया पर व्यवहारसे हर कोई कहता है कि स्त्रीने रोटी बनाई। और भी जुलाहेने यों ताना डाला आतान विनान किया और कपड़ा बन गया। कपड़ेकी क्रिया कपडेमें हुई और जुलाहेकी क्रिया जुलाहेमें। पर व्यवहारसे ऐसा कहते हैं कि जुलाहेने कपड़ा बनाया। इसी तरह पुद्गल कर्मको परमार्थसे पुद्गल द्रव्य ही करता है और पुद्गल कर्मके

होनेके अनुकूल अपने रागादिपरिणामोंको जीव करता है उसके निमित्त नैमित्तिक भावको देखकर अज्ञानीके यह भ्रम होता है कि जीव ही पुद्गल कर्मको करता है। सो अनादि अज्ञानसे प्रसिद्ध व्यवहार है। जब तक जीव और पुद्गलका भेदज्ञान नहीं होता तब तक दोनोंकी प्रवृत्ति एकसरीखी दीखती है।

समयसारकी टीकामें लिखा है—पुद्गल कर्मको जीव जानता है तो भी उसका पुद्गलके साथ कर्ता कर्म भाव नहीं है, क्योंकि कर्म तीन प्रकारसे कहा जाता है। या तो उस परिणाम रूप परिणमे वह परिणाम या आप किसीको ग्रहण करे वह वस्तु। या किसीको आप उपजावै वह वस्तु। ऐसे तीनोंही तरहसे जीव अपनेसे जुदे पुद्गल द्रव्य रूप परमार्थसे नहीं परिणमता, क्योंकि आप चेतनहै पुद्गल जड़ है, चेतन जड़ रूप नहीं परिणमता। पुद्गलको ग्रहण भी परमाथसे नहीं करता, क्योंकि पुद्गल मूर्त्ती है आप अमूर्तिक है मूर्तिक द्वारा अमूर्तिकका ग्रहण योग्य नहीं है। तथा पुद्गलको परमार्थ से आप उपजाता भी नहीं; क्योंकि चेतन जड़को किस तरह उपजा सकता है? इस तरह पुद्गल जीव का कर्म नहीं है और जीव उसका कर्ता नहीं। जीवका स्वभाव ज्ञाता है वह आप ज्ञान रूप परिणमता उसको जानता है। ऐसे जानने वालेका परके साथ कर्ता कर्मभाव कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता।

आत्माके परिणाम आत्मामे होते हैं और पुद्गलके पुद्गलमे। वह तीन कालमें उसका कर्ता नहीं होता। यदि

आत्मा पुद्गल कर्मको करे , भोगे तो वह आत्मा इन दो क्रिया-ओंसे अभिन्न ठहरे, सो ऐसा जिनदेवका मत नहीं। आत्मा दो क्रियाओंका कर्ता नहीं है। जो कर्ता कहते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं। और भी लिखा है—

जो जम्हि गुणो दव्वे सो अण्णह्मि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकतो कह तं परिणामए दव्वं ॥१०३॥

जो द्रव्य अपने जिस द्रव्य स्वभावमें तथा जिस गुणमें वर्तता है वह अन्य द्रव्यमें तथा गुणमें संक्रमण रूप नहीं होता-पलटकर अन्यमे नहीं मिल जाता— वह अन्यमें नहीं मिलता हुआ भी उस अन्य द्रव्यको कैसे परिणमा सकता है ? कभी नहीं परिणमा सकता, क्योंकि वह वस्तु स्थितिकी मर्यादाको भेदनेमे असमर्थ है। आत्मा पुद्गलमय कर्ममे द्रव्यको तथा गुणको नहीं करता, उसमें उन दोनोंको नहीं करता हुआ भी उसका वह कर्ता कैसे हो सकता है ?

कोई पूछे यह जीव फिर ससारी क्यों है ? तो बतलाते हैं कि इस जीवके अनादिकाल से मोहयुक्त होनेसे उपयोगके तीन परिणाम हैं वे मिथ्यात्व अज्ञान और अविरति है। जैसे स्फटिक शुद्ध था पर हरित, नील और पीतादिकी डाक लगानेसे वह तीन रूप परिणमन करता है। वैसे ही इन तीनोंमें से जिस भावको यह आत्मा स्वयं करता है उसीका वह कर्ता होता है। ससार में भी देखलो जब यह जीव मदिरा पीकर मतवाला हो जाता है तो मूर्तिक द्रव्यसे भी अमूर्तिकमें विकार परिणाम हो

जाता है। इस तरह यह आत्मा अज्ञानी हुआ किसीसे राग किसीसे द्वेष करता हुआ उन भावोंका आप कर्ता होता है। उसको निमित्त मात्र होने पर पुद्गल द्रव्य आप अपने भावकर कर्मरूप होके परिणमता है। और देखो, वेश्याने यहा नैन मटकाए, वहा तुम प्रसन्न होगए और अटीमेसे रुपए निकाल कर दे दिए। अब क्या वेश्याने तुमसे कहा था? और भी रणमे बैंडका बाजा यहाँ बजता है और योद्धाओंमे वहा मारकाट शुरू होजाती है। यह बात प्रत्यक्ष है। तब यदि आत्माके भावोंका निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्य कर्मपने रूप परिणमन कर जाय तो इसमे आश्चर्य ही क्या है।

जीव और पुद्गल परिणामोंका परस्पर निमित्तमात्रपना है। तो भी परस्पर कर्ताकर्मभाव नहीं है तथा मृत्तिका जैसे कपड़ेकी कर्ता नहीं है वैसे अपने भाव कर परके भावोके करनेके असमर्थपनेसे पुद्गलके भावोंकी कर्ता भी कभी नहीं है।

ज्ञानकी अद्भुद महिमा है। ज्ञान ज्ञयको जानता है इसलिए ज्ञान नहीं है। अग्नि लकड़ीको जलाती है इसलिए अग्नि नहीं है कांटोंमे तीक्ष्णपना कौन लाया? नीममे कडवापन कहासे आया? अरे, वहतो स्वभावसे ही है। इसी तरह ज्ञान भी सहज स्वपर-प्रकाशक है। वह अपनेको जानता है तथा परको भी जानता है पर अनादिकालसे यह जीव ज्ञेय मिश्रित ज्ञानका अनुभवन कर रहा है। जैसे हाथी मिष्ट पदार्थों तथा तृणोंको

एक साथ खाता है वैसेही यह जीव मिश्रित पदार्थोंके स्वादमें आनन्द मानता है। कभी एक खालिस ज्ञानका स्वाद नहीं लेता।

भावार्थ—कर्मके निमित्तसे जीव विभाव रूप परिणमते हैं, जो चेतनके विकार हैं वे जीव ही हैं और पुद्गल मिथ्यात्वादि कर्म रूप परिणमते है वे पुद्गलके परमाणु हैं तथा उनका विपाक उदय रूप हो स्वाद रूप होते हैं वे मिथ्यात्वादि अजीव हैं। ऐसे मिथ्यात्वादि जीव अजीवके भेदसे दो प्रकार हैं। यहां पर ऐसा है जो मिथ्यात्वादि कर्मकी प्रकृतिया हैं वे पुद्गल द्रव्यके परमाणु हैं उनका उदय हो तब उपयोग स्वरूप जीवके उपयोगकी स्वच्छताके कारण जिसके उदयका स्वाद आए तब उसीके आकार उपयोग हो जाता है तब अज्ञानसे उसका भेद-ज्ञान नहीं होता, उस स्वादको ही अपना भाव जानता है। सो इसका भेद-ज्ञान ऐसा है कि जीव भावको जीव जाने अजीव भावको अजीव जाने तभी मिथ्यात्वका अभाव होके सम्यग्ज्ञान होता है।

यदि कोई कहे कि व्याप्य व्यापक भावसे कर्ताकर्मका सम्बन्ध नहीं होता तो निमित्त नैमित्तिक भावसे तो होता है। सो कहते हैं जो कुछ घटादिक तथा क्रोधादिक पर-द्रव्य स्वरूप कर्म प्रगट देखे जाते हैं उनको यह आत्मा व्याप्य व्यापक भाव कर नहीं करता। जो ऐसे करे तो उनसे तन्मयपनेका प्रसंग आयगा। तथा निमित्त नैमित्तक भाव कर भी नहीं सकता? क्योंकि ऐसा करे तो सदा सब अवस्थाओंमें कर्तापनेका प्रसग आजाय।

इन कर्मोंको कौन करता है ? सो कहते हैं–इस आत्माके योग (मन वचन कायके निमित्तसे प्रदेशोंका चलना) और उपयोग (ज्ञानका कषायोंसे उपयुक्त होना) ये दोनों अनित्य हैं सब अवस्थाओंमे व्यापक नहीं हैं। वे उन घटादिकके तथा क्रोधादि पर द्रव्यस्वरूप कर्मोंके निमित्तमात्र कर कर्त्ता कहे जाते हैं। योग तो आत्माके प्रदेशोंका चलन रूप व्यापार है और उपयोग आत्माके चैतन्यका रागादि विकार रूप परिणाम है। इन दोनों का कदाचित्काल अज्ञानसे उनको करनेसे आत्माको भी इनका कर्ता कहा जाता है, परन्तु परद्रव्य स्वरूप कर्मका तो कर्ता कभी भी नहीं है ऐसा निश्चय है। गीता में लिखा है.—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।'

अर्थात् मनुष्यको कर्म करनेका अधिकार है। उसके फलमें नहीं। कर्म करो परन्तु उसके फलकी आशा मत करो। तो जैनधर्म कहता है कि फल की आशा तब करे जब कोई कर्म करे। कोई कर्म ही मत करो। किसी पदार्थमें कर्तृत्वबुद्धि ही तुम मत रखो। फलकी आशा तो दूर रही तुम किसी द्रव्यके कर्ता ही नहीं हो यह जैनधर्मकी अपनी एक निजी विशेषता है।

और तो और—भगवान भी तत्वोंके कर्ता (बनानेवाले) नहीं है। जैसे सूर्य पदार्थोंको बनानेवाला नहीं है। प्रकाश वाला है। वैसे ही भगवान भी तत्वोंको प्रकाश करने वाले हैं, बनाने वाले नहीं है।

अत' जो भी कार्य हो उसमें कर्तृत्व-बुद्धिको त्यागो और नित्योद्योत ज्ञानानन्दमयी एक अपनी आत्माको पहचानो, इसको जाने बिना हम अनादिकालसे पंच परिवर्तनके पात्र बने। और जब तक नहीं जानेंगे तब तक भ्रमण नहीं मिटेगा। अब सुथल सुकुल पाकरके प्रमाद नहीं करना चाहिए। अपनी चीज अपने ही पास है। वह अन्यत्र कहीं नहीं है। एक आदमी ने एक से ऐसा कहा अरे तेरा कान कौआ लेगया। वह बेतहाशा हो कर कौए के पीछे दौड़ा। दूसरेने दौड़ने का कारण पूछा। उसने कहा एक अच्छे आदमीने कहा है कि कौआ कान लेगया। पर मूर्खने अपना हाथ उठा कर अपने कानको नहीं देखा। कान कहा चला गया था। अपने पास ही तो है। वैसे ही हम भी मोहमें फसकर समार—दौड़की होड़ लगा रहे हैं पर मुक्ति यों कदापि न मिलेगी, जब तक हम अपनी ओर दृष्टिपात न करेंगे। संसारमें जन्म लेना तभी सफल है जब हम उस आत्मा को जानेंगे और जाननका प्रयत्न करेंगे।

१५ या २० मिनट अवश्य आत्म-चिंतवनमें लगाओ। उतना ही अनुभव करो जितना तुम्हारी शक्ति हो। गृहस्थीमें रहकर मुनिके सुखकी कल्पना मत करो। यदि तुम्हारे पास ५०) रुपए हैं तो पचासका ही सुख लो, करोड़पतिके सुखकी कल्पना मत करो। लोग कहते हैं कि मुनी कैसे परीषह सहन करते होंगे? अरे, परीषह सहनेमें क्या धरा है? परीषह तो

वृक्ष भी रात दिन शीत घाम मेघकी सहन कर लेते हैं । सबसे बड़ी बात तत्वकी है । यदि वह हो गयी तो परीषहमें कोई बड़ी बात नहीं । मुनियोंको घानीमें पेल दिया तो आहि न की । अतः आत्मज्ञान । बड़ दुर्लभ है । जिसको प्राप्त होगया वही धन्य है ।

"यतो न किञ्चित् ततो न किञ्चित् ।
यतो यतो यामि ततो न किञ्चित् ॥
विचार्य पश्यामि न जगन्न किञ्चित ॥
स्वात्मावबोधादधिक न किञ्चित ॥"

न यहा कुछ है, न वहा कुछ है । जहा जहा जाता हूँ वहां कुछ नहीं है । मैं विचार कर देखता हूँ तो जगतमें आत्म ज्ञानके सिवाय और कुछ नहीं है ।

अब कहते हैं कि ज्ञानी पुरुषोंको आत्माके सिवाय और कुछ ग्रहण न करना चाहिए । आत्मा आत्माहीके द्वारा ग्रहण करने योग्य है । इन्द्रियां अपने अपने विषयोंको ग्रहण करती हैं । करने दो, पर उन विषयोंसे रागद्वेष मत करो । कर्ण इन्द्रिय द्वारा सुनना होता है, रसनासे स्वाद लेना होता है, घ्राणसे सूंघना होता है स्पर्शनसे ठंडे, गरमका अनुभव होता है और आंखोंसे देखना होता है ये इन्द्रियोंके विषय हैं । इसके अलावा और कोई विषय होय तो बताओ । इन्द्रियोंका काम ही विषयोंमें प्रवर्तना होता है । चक्षु इन्द्रिय है । इसका काम देखनेका है ।

देख लिया चलो छुट्टी पाई । पर हां, उस देखनेमें किसी प्रकारका हर्ष विषाद मत करो । सूरदासने बाह्यमें अपनी आंखें फोड़ लीं तो क्या होता है ? अंतरंगसे देखनेकी लालसा नहीं मिटी तो व्यर्थ है । इसी प्रकार मनमें भी इष्टानिष्ट कल्पना करो तो आकुलता है । पंडित दौलतरामजीने कहा.—

"आतमके अहित विषय कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय"

वास्तवमें कषायही आत्माका अहित करने वाली है। जैसे बने वैसे कषायोंको कृश करनेका प्रयत्न करता रहे। रागादिक कषाय ही संसारको जन्म देती हैं। सनत्कुमार चक्री जब मुनि होगए, उस समय उनको किसी रोगने घेर लिया। स्वर्गोंमें इन्द्रने अपनी सभामें चक्रवर्तीकी प्रशंसाकी और एक देव उनक परीक्षार्थ वहां आया। उसने वैद्यका रूप धारण कर लिया और मुनिसे बोला 'हम आपका रोग दूर कर सकते हैं।' मुनिने कहा 'इस शरीरके रोगको दूर करनेमे क्या है ? हां, यदि रागादिक रोग दूर कर सकते हो तो उसका इलाज करो।' वह देव तुरन्त चरणोंमें पड़ गया और क्षमा माग कर चला गया। निष्कर्ष यह निकला कि आत्माके रागादिक विकार दूर करनेको कोई समर्थ नहीं। मनुष्य यदि स्वयं चाहे तो वह मेंट सकता है।

संसार जालमें फंसाने वाला कौन है ? जरा अन्तर्दृष्टिसे परामर्श करो। जाल ही चिड़ियोंको फंसाता है ऐसी भ्रान्ति

छोड़ो बहेलिया फसाता है यह भ्रम भी त्यागो, जिह्वेन्द्रिय फसाती है यह अज्ञानता भी त्यागो, केवल चुगनेकी अभिलाषा ही फसानेमें बीजभूत है। इसके न होने पर वे सब व्यर्थ है। इसी तरह इस दु खमय संसारके जालमें फंसानेका कारण न तो यह बाह्य सामग्री है, न मन, वचन और कायका व्यापार ही है, न द्रव्यकर्म समूह है, केवल स्वकीय आत्मासे उत्पन्न रागादि परिणति ही सेनापतिका कार्य कर रही है। अत इसीका निपात (विनाश) करो।

जिस रोगको हमने पर्याय भर जाना और जिसके लिए दुनिया के वैद्य और हकीमोंको नब्ज दिखाई, उनके लिखे बने या पिसे पदार्थोंका सेवन किया और कर रहे हैं, वह तो वास्तवमें रोग नहीं। जो रोग है उसको न जाना और न जाननेकी चेष्टाही की और न उस रोगके वैद्यों द्वारा निर्दिष्ट रामबाण औषधिका प्रयोग किया। उस रोगके मिट जानेसे यह रोग सहज ही मिट जाता है। वह रोग है राग और उसके सद्वैद्य हैं वीतराग जिन। उनकी बताई औषधि है १ समता २ परपदार्थोंसे ममत्वका त्याग और ३ तत्त्वज्ञान। यदि इस त्रिफलाको शान्ति रसके साथ सेवन करे और कषाय जैसी कटु तथा मोह जैसी खट्टी वस्तुओंका परहेज किया जाय तो इससे बढ़कर रामबाण औषधि और कोई हो नहीं सकती।

आत्म भावना

सहज शुद्धज्ञान आनन्दस्वरूप निर्विकल्प और उदासीन ऐसा जो अपना स्वभाव है उसका अनुभव और ज्ञान और प्राप्ति किस प्रकार होती है अब उसकी भावना कहते हैं—

निज-निरंजन-शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चय-रत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसंजातवीतरागसहजानन्दरूपसुखा-नुभूतिमात्रलक्षणेन स्वसंवेदनज्ञानेन स्वसंवेद्यो गम्यः प्राप्यो भरितावस्थोऽहम्" अर्थात् मैं निज निरंजन शुद्ध आत्माके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान अनुष्ठान रूप निश्चय रत्नत्रयात्मक निर्वि-कल्प समाधिसे उत्पन्न वीतराग सहजानन्द रूप सुखकी अनुभूति-मात्र जिसका लक्षण स्वरूप है ऐसे स्वसंवेदन ज्ञानके द्वारा स्वसंवेद्य, गम्य प्राप्य, भरितावस्थ हूँ। ऐसी आत्माकी भावना करनी चाहिए। इस प्रकार पहिले स्वभावसे भरा हुआ परिपूर्ण हूँ ऐसा 'अस्ति' से कहा अब मेरा स्वभाव सर्व विभावोंसे रहित शून्य है ऐसा नास्तिसे कथन करते हैं।

"रागद्वेष— मोह-क्रोध-मान-माया-लोभ-पञ्चेन्द्रियविषय-व्यापार-मनोवचनकायव्यापार-भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्म-ख्याति—पूजा-लाभ—दृष्टश्रुतानुभूतभोगकांक्षारूप—निदान-माया-मिथ्या-शल्यत्रयादिसर्वविभावपरिणामरहितशून्योऽहम्।' अर्थात् मैं सर्व विभावपरिणामोंसे रहित शून्य हूँ ऐसी अपनी आत्माकी भावना करनी चाहिए।

'जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च शुद्धनिश्चयनयेन तथा सर्वेऽपि जीवा इति निरंतरं भावना कर्तव्येति।' अर्थात् तीन लोक और तीन कालमें शुद्धनिश्चयनयसे ऐसा (स्वभावसे पूर्ण और विभावसे रहित) हूँ तथा समस्त जीव ऐसे ही हैं। ऐसी मन, वचन, कायसे तथा कृत कारित अनुमोदनासे निरन्तर भावना करना योग्य है।

आगे सांख्यमतका निरूपण करते हुए बतलाते हैं कि उनका कहना कहां तक उचित है? वे कहते हैं कि कर्म ही सब कुछ करता है—कर्म ही ज्ञानको ढकता है, क्योंकि ज्ञानावरणकर्मके उदयसे ज्ञान प्रकट नहीं होता, कर्म ही ज्ञानको बढाता है, क्योंकि ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे ज्ञानका विकास होता है। कर्मही मिथ्यात्वोदयसे पदार्थको विपरीत दिखलाता है जैसे कामलारोग वालेको शंख पीला दिखता है इत्यादि कर्म सब कुछ करता है, आत्मा अकर्ता है। ऐसे सिद्धान्त मानने वालेको कहते हैं कि आत्मा बिल्कुल अकर्ता नहीं है। यदि अकर्ता हो जाय तो राग द्वेष मोह ये किसके भाव होंय? यदि पुद्गलके कहो तो वह तो जड़ स्वभाववाला है। जड़में रागद्वेष क्रिया होती नहीं। अतः इस जीवके अज्ञानसे मिथ्यात्वादि भाव परिणाम हैं वे चेतन ही हैं जड़ नहीं हैं। इसलिए कथंचित् आत्मा कर्ता है और कथंचित् अकर्ता है। अज्ञानसे जब वह जीव रागद्वेषादिक भाव करता है तब वह कर्ता होता है और जब ज्ञानी होकर भेदज्ञानको

प्राप्त हो जाता है तब साक्षात् अकर्ता होता है। इसलिए चेतन कर्मका कर्ता चेतनही होना परमार्थ है वहां अभेददृष्टिमें तो शुद्ध चेतनमात्र जीव है परन्तु कर्मके निमित्तसे जब परिणमता है तब उन परिणामों कर युक्त होता है। उस समय परिणाम परिणामीकी भेददृष्टिमें अपने अज्ञानभाव परिणामों का कर्ता जीवही है और अभेददृष्टिमें तो कर्ता कर्म भाव ही नहीं है शुद्ध चेतनमात्र जीव वस्तु है। इसलिए चेतन कर्मका कर्ता चेतनही है अन्य नहीं। श्री समन्तभद्राचार्य देवागममें लिखते हैं कि:—

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात्।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत् ॥५७॥

पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है अतः यदि पदार्थको सामान्यापेक्षा देखा जाय तो वह एक रूप ही दिखाई देगा और विशेषकी अपेक्षासे उसमें नानापना दिखलाई देगा। जैसे एक मनुष्य है। वह क्रमसे पहले बालक था, बालकसे युवा हुआ और युवासे वृद्ध हुआ। यदि सामान्यसे विचारो तो एक चेतनमात्र जीवही है परन्तु विशेष दृष्टिसे देखो तो वह बालक है, फिर युवा है और वही वृद्ध भी है ऐसा व्यवहार होता है। इसी तरह ज्ञायक स्वभावकी अपेक्षा तो आत्मा अकर्ता है परन्तु जब तक भेद-ज्ञान न हो तब तक मिथ्यात्वादि भाव कर्मोंका कर्ताही मानना उचित है। इस तरह एक ही आत्मामें कर्ता

अकर्ता दोनों भाव विवक्षाके वशसे सिद्ध होते हैं। यह स्याद्वाद मत है तथा वस्तुस्वभाव भी ऐसा ही है कल्पना नहीं है।

'द्रव्यदृष्टिसे विचारो तो सब आत्मायें शुद्ध मिलेंगी पर नय विवक्षासे देखो, तो नाना प्रकारके भेद दिखेंगे। ये नय पर्यायदृष्टि कर देखे जावे तो भूतार्थ ही हैं। अतः उनको उन्हीं रूपसे जानना सत्यार्थभी है। सामान्यरूपसे जीव एक है परन्तु पर्यायदृष्टिसे उसमें नानापना असत्य नहीं, तात्त्विक ही है तथा जीवके गुणोंमें जो विकार होता है उसके जानेसे गुणकी शुद्ध अवस्था रह जाती है, अभाव नहीं होता है। जैसे जलमे पंकका सम्बन्ध होनेसे मलिनता आ जाती है पकके अभावमें जलमें जैसे स्वच्छता आ जाती है एवं आत्मामें मोहादि कर्मके विपाकसे विकृतावस्था हो जाती है। उस विकृतावस्थामें उनमें नानापन दीखता है, उसका यदि उस अवस्थामें विचार किया जावे तब नानापन सत्यार्थ है, किन्तु वह औपाधिक है अतः मिथ्या है, न कि स्वरूप उसका मिथ्या है'। यदि स्वरूप मिथ्या होता तब संसार नाशकी आवश्यकता न थी। अतः नय विवक्षासे पदार्थों को जानना ही ससारसे मुक्तिका कारण है।

अब कहते हैं इस मनुष्यको अनादिकालसे जीव और पुद्गलका एकत्व अभ्यास हो रहा है। अनात्मीय पदार्थोंमें आत्मीय बुद्धि मान रहा है। कभी इससे खालिस ज्ञानका स्वाद नहीं लिया। ज्ञेय मिश्रित ज्ञानका अनुभव किया। केवल

ककड़ीके खानेमें स्वाद नहीं आता पर नमक मिर्चके साथ खानेमें आनन्द मानता है, क्योंकि इसको वही मिश्रित पदार्थोंके खानेकी जो आदत पड़ी हुई है अब खानेमें केवल ज्ञानका ही परिणमन होता है पर उस ज्ञानको छोड़ हम परपदार्थोंमें सुख मान लेते हैं। यही अज्ञानकी भूल पड़ी है। आचार्योंने इसलिए रस-परित्याग तप बतलाया है कि इस जीवको खालिस एक पदार्थके स्वादका अभ्यास पड़े। ऐसी ज्ञानमयी आत्माको छोड़ यह जीव अनन्त संसारका पात्र बनरहा है। पुद्गलमें जीवत्वका आरोप कर रहा है। अन्धकारमें रज्जुको सर्प मान रहा है। गिर रहा, पड़ रहा और नाना प्रकारके दुःखभी उठा रहा, पर फिरभी अपनी अज्ञानताको नहीं मेटता। शरीरसे भिन्न अपनी आत्माको नहीं पहचानता। यदि एक भी बार उस ज्ञानमयी आत्माका अनुभव होजाय तो कल्याण होनेमें कोई विलम्ब न लगे। केवल अपनी भूलको सुधारना है।

एक स्त्री थी जब उसका पति परदेश जाने लगा तो उसने उसको एक बटिया दी इस विचारसे कि कहीं वह खोटे आचरणोंमें न पड़ जावे और कहा कि इसको पहिले अपने सामने रखके कोई भी पाप कार्य न करनेकी प्रतिज्ञा करना तत्पश्चात् इसकी पूजाकर और फिर भोजन करना। वह आदमी उस बटियाको लेकर चल दिया। मार्गमें एक स्थान पर विश्राम किया और जब भोजन का समय हुआ तो उसने उस बटियाको

निकाल कर अपने सामने रक्खा और वैसा ही जैसा कि उसकी स्त्रीने कहा था पाप न करनेका वचन दिया। जब वह पूजा पूर्णकर भोग लगा रहा था, उसी समय एक चूहा आया और उस भोग को खाने लगा। उसने सोचा-अरे, इस बटियासे तो चूहा ही बड़ा है, झट उस चूहे को पकड़ लिया और एक पिंजरेमें बन्द कर उसकी पूजा करना शुरू कर दिया। एक दिन अकस्मात् बिल्ली आई। चूहा उस बिल्लीको देखकर दबक गया। उसने सोचा अरे, इस चूहेसे तो बिल्ली ही बड़ी है, उसको पकड़कर बांध लिया और उसकी पूजा करने लगा। एक दिन आया कुत्ता-कुत्तेको देखकर वह बिल्ली दबक गई। उसने फिर सोचा अरे, इस बिल्लीसे तो कुत्ता बड़ा है। उसने कुत्तेको पकड़कर बांध लिया और उसकी पूजा शुरू कर दी। अब वह परदेशसे कुत्तेको साथ लेकर अपने घर लौट आया। एक दिन उसकी स्त्री रोटी बना रही थी, वह कुत्ता लपककर चौकेमें घुस गया। स्त्रीने उसके मारा एक डंडा और वह भों भों करके भाग गया। उसने सोचा-अरे, कुत्तेसे तो यह स्त्री ही बड़ी है। अब वह उस स्त्रीको पूजने लगा—उसकी धोती धोना, उसका साज शृंगारादिक करना। एक दिन उसकी स्त्री खाना बनाते समय शाकमें नमक डालना भूल गई। जब वह आदमी खानेको बैठा तो उसने कहा 'आज शाकमे नमक क्यों नहीं डाला?' वह बोली 'मैं भूल गई।' उसने कहा—क्यों भूल गई और एक थप्पड़ मारा। वह

स्त्री रोने लगी। उसने सोचा अरे, मैं ही तो बड़ा हूँ; यह स्त्री तो मुझसे भी दुबक गई। आखिर उसको अपनी भूलका ज्ञान हो गया। तो वास्तवमें जिसने अपनेको पहिचान लिया, उसके लिए क्रोध, मान, माया, लोभ क्या चीज है? हम दूसरोंको बड़ा बनाते हैं कि अमुक बड़े है, तमुक बड़े हैं, पर मूर्ख अपनी ओर दृष्टिपात नहीं करता। अरे, तुझसे तो बड़ा कोई नहीं है। बड़ा बननेके लिए बड़े कार्य कर। वास्तवमें अपनेको लघु मानना तो महती अज्ञानता है कि हम क्या हैं? किस खेतकी मूली हैं? यह तो महान् आत्माको पतित बनाना है। उसके साथ अन्याय करना है। अरे, तुझमें तो अनंतज्ञानकी शक्ति तिरोभूत है। अपनेको मान तो सही कि मुझमें परमात्मा होनेकी शक्ति विद्यमान है। आत्मा निर्मल होनेसे मोक्षमार्गकी साधक है और आत्माही मलिन होनेसे संसारकी साधक है। अतः जहां तक बने आत्माकी मलिनताको दूर करनेका प्रयास करना हमारा कर्तव्य है।

देखिए, 'पंकापाये जलस्यनिर्मलतावत् ।' जलके ऊपर काई आ जानेसे जल मलिन दिखता था और जब काई दूर हो गई तो जल स्वच्छका स्वच्छ हो गया। उसकी स्वच्छता कहीं और जगह नहीं थी केवल काई लग जानेसे उसमें मलिनता थी सो जब वह दूर हुई तो जल स्वतः स्वच्छ हो गया। अब देखो, यह कपड़ा है इसपर यह चिकनाई लगी हुई है इस चिकनाईकी

वजहसे उसमें धूलके कण लग गए जिससे वह मलिन होगया। पर अब सोडा साबुन लगा कर उसे साफ कर दिया गया तो वह वस्त्र स्वच्छ हो गया। तो उस वस्त्रमे स्वच्छता थी तभी तो वह उजला हुआ, नहीं तो कैसे होता? हा, उस वस्त्रमें केवल बाह्य मलिनता अवश्य आ गई थी, उसके धुल जानेसे वह जैसा था वैसा होगया। इसी तरह आत्मा भी रागद्वेषादिकके संयोगसे विकारको प्राप्त हो रही थी, उस विकारताके मिट जानेसे वह जैसी थी वैसी हो गई। अब देखो उस वस्त्रमें जो चिकनाई लग रही है, यदि वह नहीं मिटे और ऊपरसे चाहे जितना जलसे धो डालो तो क्या होता है? क्योंकि उस चिकनाईकी वजहसे वह फिर मलिनका मलिन हो जायगा। इसी तरह आत्माके जो रागद्वेषादि है यदि वह नहीं मिटे और ऊपर शरीरको खूब सुखाने लगे तपश्चरण करने लगे तो क्या होता है? तुषमासभिन्न ज्ञान हुआ नहीं, और उस तुषको ही पीटने लग गए तो बताओ क्या होता है? अन्तरंगकी रागद्वेष परिणति नहीं मिटी तो पुनः वही देह धारण है। पर्यायको मिटानेका प्रयत्न नहीं है पर जिन कारणोंसे पर्याय उत्पन्न हुई उन्हें मिटानेकी आवश्यकता है। उसका ज्ञान अनिवार्य है। जैसे मिश्री है। यदि उसे नहीं चखो तो कैसे उसका स्वाद आए कि यह मीठी होती है। उसी तरह रागका भी यदि अनुभव न होय तो क्या उसे मिटानेका प्रयत्न होय? "प्रीतिरूपपरिणामो राग."। प्रीति रूप परिणामका होना

राग है। और अप्रीति रूप परिणामका होना यह द्वेष है। संसारका मूल कारण यही राग द्वेष है। इस पर जिसने विजय प्राप्त करली उसके लिए शेष क्या रह गया ?

सच्चा पुरुषार्थ

अब कहते हैं कि आत्माको पहिचानना ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। वह छोड़कर तीर्थस्थानमें रहनेमें पुरुषार्थ नहीं, पण्डित महानुभावोंकी तरह ज्ञानार्जन कर जनताको उपदेश कर सुमार्गमें लगाना पुरुषार्थ नहीं, दिगम्बर वेष भी पुरुषार्थ नहीं सच्चा पुरूषार्थ तो वह है कि उदयके अनुसार जो रागादिक होवें हमारे ज्ञानमें भी आवें उनकी प्रवृत्ति भी हममें हो; किन्तु हम उन्हे कर्मज भाव समझकर इष्टानिष्ट कल्पनासे अपनी आत्माकी रक्षा कर सकें। *लोग कहते हैं कि हमें शान्ति नहीं मिलती।* अरे, तुम्हे शान्ति मिले तो कैसे मिले ? एक क्षण रागादिकसे निवृत्त होकर शान्ति मुद्रासे बैठकर तो देखो कैसा शांतिका समुद्र उमड़ता है ? न कुछ करना ही आत्माका काम है। मन वचन-कायके योग भी आत्माके नहीं हैं। वह तो एक निर्विकल्पभाव है।

लोग कहते हैं कि आत्माकी महिमा अनन्तशक्तिमें है। अरे, उसकी महिमा अनन्तशक्तिमे नहीं। मैं तो कहता हूं कि पुद्गलमें भी अनन्तशक्ति है। देखलो, केवलज्ञानावरण कर्मने आत्माके केवलज्ञानको रोक लिया है। पर आत्माकी भी वह शक्ति है जो सम्यग्दर्शन पैदा करके अन्तर्मुहूर्तमें कर्मोंका नाश कर परमात्मा बन जाय। तो उसकी महिमा अनन्त शक्तिमें नहीं।

उसका काम केवल देखना और जानना मात्र है। और देखना जानना भी क्या है? वह चीज जैसी है वैसी ही है।

लोग अपनेको कर्मों पर छोड देते हैं। वे कहते हैं क्या करें हमारे कर्ममें ही ऐसा लिखा था—कितनी अज्ञानता और कायरता है। जैसा कि अन्यमती कहते हैं, क्या करें भगवानको ऐसा ही मंजूर था वैसे ही ये लोग भी कर्मोंके मत्थे सारा दोष मढ़ते है। पुरूषार्थ पर किंचित् भी ध्यान नहीं देते। जिस आगममें पुरुषार्थ का इतना विशद वर्णन हो उसको ये लोग भूल जाते हैं। अरे, कर्मोंको दोष देनेसे क्या होगा? जो जन्मार्जित कर्म है उसका तो फल उदयमें आएगा ही। भगवानको ही देखो। मोह नष्ट हो चुका, अर्हंत पदमे विराजमान हैं। पर फिर भी दंड कपाट करो। दंडाकार हो कपाट रूप हो प्रतर करो और लोकपूरण करो। यह सब क्या है? वही जन्मार्जित कर्म ही तो उदयमे आकर खिर रहे हैं तो कर्मोंके सहारे रहना ठीक नहीं है। पुरूषार्थ भी कोई चीज है। जिस पुरूषार्थसे केवलज्ञानकी प्राप्ति होय उस पुरुषार्थकी ओर ध्यान न दो तो यह अज्ञानता ही है। समयसारमे लिखा है:—

शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतस्तत्त्वं समुत्पश्यतो।
नैकं द्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यांतरं जातुचित्॥
ज्ञान ज्ञेयमवैति यत्तु तदयं शुद्धस्वभावोदयः।
किं द्रव्यान्तरचुम्बनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवन्ते जनाः॥ २१॥

अर्थ— आचार्य कहते हैं कि जिसने शुद्धद्रव्यके निरूपणमें बुद्धि लगाई है और जो तत्त्वको अनुभवता है ऐसे पुरुषके एक द्रव्यमें प्राप्त हुआ अन्य द्रव्य कुछ भी कदाचित् नहीं प्रतिभासता तथा ज्ञान अन्य ज्ञेय पदार्थोंको जानता है सो यह ज्ञानके शुद्ध स्वभावका उदय है। ये लोक हैं वे अन्य द्रव्यके ग्रहणमें आकुल बुद्धि वाले हुए शुद्धस्वरूपसे क्यों चिगते हैं? तो उस स्वरूपकी ओर ध्यान दो। परन्तु मोह? तेरी महिमा अचिन्त्य है, अपार है जो संसार मात्रको अपना बनाना चाहता है। नारकी की तरह मिलनेको तो कण भी नहीं, परन्तु इच्छा संसार भरके अनाज खानेकी होती है।

अब देखिए, इस शरीर पर तुम यह कपड़ा पहिनते हो तो क्या यह कपड़ा तुम्हारे अन्दर प्रवेश करता है? पर मोही जीव उसे अपना मान बैठते हैं। और चोट्टापन क्या है? दूसरी चीज को अपनी मान लेना यही तो चोट्टापन है इस दुपट्टेको हमने अपना मान लिया जभी तो चोर हो गये' नहीं तो समझते पराया है। पर मोह मदिरामें ऐसा ही होता है। तुमने उसकी सी बात कही और उसने उसकी सी। इस तरह उस शुद्धस्वरूपकी ओर ध्यान ही नहीं देते। देखिए यह चद्दी हमने ले ली। इससे हम अपना काम भी निकाल रहे हैं। पर अन्तरंगसे यही समझते हैं कि अरे, यह तो पराई है। उसी तरह रागादिकोंसे यदि जरूरत

पड़े तो काम भी निकाल लो पर अन्तरंगसे यही जानो कि अरे यह तो पराई है। और जब तक भइया पर को पर और अपने को अपना नहीं समझा तब तक कल्याण भी कैसे होयगा ? यदि रागादिकोंको अपनाते रहोगे तो कैसे बंधनसे छूटना होगा बतलाइए। अत रागादिकोंको हटानेकी आवश्यकता है। कैसी भी आपत्ति आजाय, समझो यह भी कर्मों का कर्जा है। समभाव से उसे सहन करलो। हां, उसमें हर्ष-विषाद मत करो। यह तुम्हारे हाथ की बात है। और भइया! रागादिक नहीं हटे तो मनुष्यजन्म पानेका फल ही क्या हुआ ? संसार और कोई नहीं, रागादिक परिणति ही ससार है और उसका अभावही समयसार है।

स्वामी समन्तभद्राचार्य युक्त्यनुशासन के अन्तमें लिखते हैं-कि 'हे प्रभो! मैं आपकी स्तुति रागसे नहीं करता हू, क्योंकि गुणीके गुणोंमें अनुरागका होना यही भक्ति कहलाती है। सो आपका गुण तो वीतराग है। इसलिए मैं उस वीतरागताका उपासक हूँ न कि रागका। और भी आगे उन्होंने लिखा कि मैं अन्य मतोंका

१. न रागान्न स्तोत्रं भवति भवपाशच्छिदि मुनौ।
न चान्येषु द्वेषादपगुणकथाभ्यासखलता।
किमु न्यायान्यायप्रकृतगुणदोषज्ञमनसा।
हितान्वेषोपायस्तव गुणकथासङ्गगदितः॥ ६४॥

क्यों खंडन करता हूँ? इसीका यह मतलब नहीं कि मैं उनसे किसी प्रकारका द्वेष करता हूँ बल्कि इसलिये कि मैं न्याय और अन्याय मार्गको बतलाना चाहता था कि यह न्याय मार्ग है और यह अन्याय मार्ग है। मेरा केवल इतना ही उद्देश्य था। तुम चाहे तो न्याय मार्गको अपना लो चाहे अन्याय मार्गको। यह तुम्हारे हाथकी बात है।

अतः मनुष्यको अभिप्राय निर्मल रखनेकी चेष्टा करनी चाहिए। उसी की सारी महिमा है। श्रेणिक राजाको ही देखिए जब वह मुनिराजके गलेमें मरा हुआ सर्प डाल आए तो रानीसे जाकर सर्व हाल कह दिया। रानीने कहा अरे तुमने यह क्या किया? राजा बोला वह तो गलेसे उतारकर फेंक देगा, रानीने कहा, नहीं, यदि वे सच्चे हमारे मुनि होंगे तो नहीं फेंक सकते, नहीं फेंक सकते। यदि फेंक दिया होगा तो वह नंगा होते हुएभी हमारा मुनि नहीं। वहाँ दोनों जाकर पहुंचे तो देखा कि उनके गले में सर्पके कारण तमाम चीटियां चिपक गई हैं। दूरसे देखते ही राजाके हृदयमें वह साम्यभावकी मुद्रा अङ्कित हो गई। उसने मनमें सोचा कि मुनि है तो सचमुच यही है। रानीने उसी समय मुनिके समीप पहुँचकर खाड द्वारा उन चीटियोंको दूर किया। तो मतलब यही कि महिमा तो उसकी तभी हुई जब उसके हृदय में साम्यभाव जाग्रत हुआ। और शास्त्रमें भी क्या लिखा है? मनुष्यके अभिप्रायोंको निर्मल बनानेकी चेष्टा ही तो है। प्रथमानु-

योगमें वही पाप पुण्यकी कथनी है और चरणानुयोगमें भी वही मनुष्यके चारित्रका वर्णन है। गुणस्थान क्या हैं ? मनुष्यके परिणामोंकी ही परिणति तो हैं। पहिले गुणस्थान मिथ्यात्वसे लेकर चौदहवें गुणस्थान अयोगी पर्यंत मनुष्यमें ही तो समाते हैं। देवोंमें ज्यादासे ज्यादा चौथा गुणस्थान है। तिर्यंचोंमें पाचवें तक और नारकियोंमें ज्यादासे ज्यादा चौथा है। तो मनुष्य यदि चाहे तो ससारको सततिको निर्मल कर सकता है। कोई बड़ी बात नहीं। एक ने कहा रामायण तो सब गप है। इसमें सब कपोल-कल्पित कल्पनाएं भर रही हैं। दूसरा बोला यदि इसमें कल्पनाएं हैं। तो यह तो मानोगे कि रावणने खोटा काम किया तो लोक-निंदाका पात्र हुआ और रामने लोकप्रिय कार्य किया तो सुयशका अर्जन किया। वह बोला हा इसमे कोई आपत्ति नहीं। तो शास्त्र बाचनेका फल ही यह हुआ कि अपने को सुधारने की चेष्टा करे। भगवानकी मूर्तिसे भी यही शिक्षा मिलती है कि अपनेको उसीके अनुसार बनाए। उन्होंने रागद्वेष हटाया, मध्यस्थ रहे तुम भी वैसा ही करो। मध्यस्थ बननेका यत्न करो। गुरू और क्यों पुज जाते हैं ? उन्होंने वही समता भाव धारण किया। लिखा भी है—

अरि मित्र-महल-मसान-कंचन-कांच-निन्दन थुतिकरण।
अर्घावतारण-असि-प्रहारणमे सदा समता धरण॥

मनुष्यको परिणामोंमें समता धारण करना चाहिए। तुम्हारे दिलमें यदि प्रसन्नता हुई तो कह दिया कि भगवान् आज तो प्रसन्न मुद्रामे हैं। वैसे देखा जाय तो भगवान् न तो प्रसन्न हैं और न रुष्ट। अपने हृदयकी प्रसन्नता को तुमने भगवान् पर आरोप कर दिया कि आज तो हमें मूर्ति प्रसन्नमना दिखाई देती है। पर देखो तो वह जैसेको तैसी ही है अतः मनुष्य यदि अपने परिणामों पर दृष्टिपात करे तो ससार बंधनसे छूटना कोई बड़ी बात नहीं है।

हम ही लोग अपनी शान्तिके बाधक है। जितने भी पदार्थ संसारमे है उनमें से एक भी पदार्थ शान्त-स्वभावका बाधक नहीं। बर्तनमे रक्खी हुई मदिरा अथवा डिब्बेमें रक्खा हुआ पान पुरुषमे विकृतिका कारण नहीं। पदार्थ हमे बलात्कार से विकारी नहीं करता, हम स्वयं विकल्पोंसे उसमें इष्टानिष्ट कल्पना कर सुखी और दु खी होते हैं। कोई भी पदार्थ न तो सुख देता है और न दु ख देता है, इसलिए जहा तक बने आभ्यन्तर परिणामोंकी विशुद्धता पर सदैव ध्यान रहना चाहिए।

आगे कहते हैं कि ब्रह्मचर्यव्रत ही सर्व व्रतोंमे उत्तम है। इसके समान और कोई दूसरा व्रत नहीं है। जिसने इस व्रत को पाल लिया उसके अन्य व्रत अनायास ही सध जाते हैं। पर इस व्रतका पालन करना कोई सामान्य बात नहीं है। स्त्री विषयके राग का जीतना बड़ा कठिन है। पहिले पार्सी थिएटर चलते थे।

एक थियेटरमें एक पार्सी था; उसकी स्त्री बड़ी खूबसूरत थी। वे दोनों स्टेज पर अपना खेल जनताको बतलाते थे। एक दिन वह स्त्री स्टेज पर अपना पार्ट कर रही थी। एक मनुष्यने एक कागज पर कुछ लिखकर स्टेज पर फेंक दिया। उस स्त्रीने उस कागज को उठाकर बाचा बाँचकर उस कागजको दियासलाईसे जलाकर अपने पैरोंसे कुचल दिया। इधर तो उसने कागजको कुचल दिया और उधर उस मनुष्यने कटारसे अपना गला काट लिया। तो स्त्री सबन्धी राग बड़ा दुखदायो होता है। एक पुस्तकमें लिखा है — ससारमें शूरवीर कौन है ? उत्तरमें बतलाया—जो तरुण स्त्रियोंके कटाक्ष बाणोंसे बीधा जाने पर विकार भावको प्राप्त नहीं हुआ। वास्तवमें शूरवीर तो वही है।

और स्त्रीसबन्धी भोग भी क्या है ? उसमे कितनी देरका सुख है। अन्तमे तो इनसे वैराग्य होता ही है। आपके सुदर्शन सेठकी कथा तो आगममें ही लिखी है। भर्तृहरिको ही देखिए। उनकी स्त्रीका नाम पिंगला था। एक बार अपनी प्रियतमा स्त्राका दुष्टचरित देखकर वे संसारसे विरक्त होकर योगी हो गए थे। स्त्रीके विषय में उस समय उन्होंने यह श्लोक कहा था.—

"यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता।
साऽप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्त॥
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या।
धिक् तां तं च मदन च इमां च मां च॥"

अर्थात् जिसका मैं निरन्तर चिन्तवन किया करता हूँ वह मेरी स्त्री मुझसे विरक्त है। इतना ही नहीं किन्तु दूसरे पुरुष पर आसक्त है और वह पुरुष किसी दूसरी स्त्री पर आसक्त है तथा वह दूसरी स्त्री मुझपर प्रसन्न है। अतएव उस स्त्रीको उस पुरुष को उस कामदेवको इस (मेरी स्त्रीको) को और मुझको भी धिक्कार है। कार्तिकेयमुनिने कार्तिकेयानुप्रेक्षाके अन्तमें पाच बाल ब्रह्मचारियों को ही नमस्कार किया है।

तो इस रागसे विरक्त होना अत्यन्त कष्टसाध्य है। और जिसको विरक्ति हो जाती है उसके लिए भोगोंका छोड़ना कोई बड़ी बात भी नहीं होती। पंडित ठाकुरप्रसाद जी थे। वे दो विषयोंके आचार्य थे। उनकी दूसरी स्त्री बड़ी खूबसूरत थी। पडित जी उस पर पूर्ण आसक्त थे। उस समय उनकी आय ५०)रु० माहवार थी तो उस ५०)रु० में से वे १०) रु० मासिक अपनी स्त्री को देते थे। जब उनकी तरक्की १००) रु० मासिक हुई तो वे २०) रु० उसको देने लगे। और वह स्त्री सब रुपया गरीबोंको बाट दिया करती थी। जब उनके ५००) माहवार हुए तो १००) रु० उसे देने लग गए। उन रुपयोंको भी वह दानमें दे दिया करती। एक दिन पंडितजी ने कहा—'देखो पैसा बहुत कठिनतासे कमाया जाता है। तुम दानमें व्यर्थ ही इतना रुपया दे दिया करती हो। वह बोली—पडितजी कौन हम आपसे रुपया मागने जाती हैं। तुम्हारी खुशी होती है तो तुम स्वयंही देते हो।'

एक दिन की बात है। स्त्रीने पंडितजी को बुलाकर कहा—देखो आज तक हमने आपके साथ इतने दिनों तक भोग भोगे पर हमें विषयोंमें कुछ भी मजा नहीं आया। ये आपके दो बाल बच्चे हैं। संभालिए। आजसे तुम हमारे भाई हुए और हम तुम्हारी बहिन हुई। पंडितजी ऐसे वचनोंको सुनकर अवाक् रह गए। अन्तमें वह उससे बोले 'बहिन तुमने मुझे आज चेतावनी देकर संभाल लिया नहीं तो मैं भोगोंमें आसक्त होकर न जाने कौनसी दुर्गतिका पात्र होता।' तो भोगोंसे विरक्त रहने ही में मनुष्यकी शोभा है। स्त्री सम्बन्धी रागका घटना ही सर्वस्व है। जब इस संबन्धी राग घट गया तब अन्य परिग्रहसे तो सुतरां अनुराग घट जाता है।

संसार वृद्धिका मूल कारण स्त्रीका समागम ही है। स्त्री समागम होते ही पांचों इन्द्रियोंके विषय स्वयमेव पुष्ट होने लगते हैं। प्रथम तो उसके रूपको देखकर निरन्तर देखनेकी अभिलाषा रहती है, वह सुन्दर रूपवाली निरन्तर बनी रहे, इसके लिए अनेक प्रकारके उबटन तेल आदि पदार्थोंके संग्रहमें व्यस्त रहता है। उसका शरीर पसेव आदिसे दुर्गन्धित न होजाय अतः निरन्तर चंदन, तैल इत्र आदि बहुमूल्य वस्तुओंका संग्रह कर उस पुतलीकी सम्भालमें संलग्न रहता है। उसके केश निरन्तर तबायमान रहें अतः उनके अर्थ नानाप्रकारके गुलाब, चमेली, केवड़ा आदि तैलोंका उपयोग करता है। तथा उसके सरस कोमल

मधुर शब्दोंका श्रवण कर अपनेको धन्य मानता है और उसके द्वारा सम्पन्न नाना प्रकारके रसास्वादको लेता हुआ फूला नहीं समाता। कोमलांगको स्पर्श करके तो आत्मीय ब्रह्मचर्यका और बाह्यमें शरीर-सौन्दर्यके कारण वीर्यका पात होते हुएभी अपनेको धन्य मानता है। इस प्रकार स्त्री के समागम से वे मोही पंचेन्द्रियों के विषयों मे मकड़ीकी तरह जालमें फंस जाते हैं।

मत्तेभ कुम्भ-दलने भुवि सन्ति शूराः।
केचित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः॥
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य।
कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्या.॥

अर्थात्—संसारमें मदोन्मत्त हस्तीके कुम्भस्थल विदारण करने वाले शूरवीर हैं, कुछ तेजस्वी सिंहके वध करनेमें भी दक्ष हैं किन्तु मैं कहता हूँ कि इन बलवानोंमें ऐसे मनुष्य विरले ही हैं जो कामदेवके दर्प (घमण्ड) को दलने (नष्ट करने) में समर्थ हों।

परिग्रह ही दुःखका कारण है।

अब कहते हैं कि संसारमें परिग्रह ही दु.खकी जड़ है। इस दुष्टने जहां पदार्पण किया वहीं कलह विसंवाद मचवा दिया देखलो, इसकी बदौलत कोई भी प्राणी संसारमें सुखी नहीं है। एक गुरू और एक चेला थे। वे दोनों सिंहलद्वीप पहुंचे।

वहा गुरूने दो सोनेकी ईट लीं और चेलाको सुपुर्द कर कहा कि इन्हे सिर पर धर कर ले चल। यह ईटें कुछ भारी थीं। अत: चेलाने मनमें सोचा 'देखो गुरूजी बड़े चालाक हैं। आप तो स्वयं खाली चल रहे हैं और मुझे यह भार लाद दिया है।' दोनों चले जाते हैं। गुरू कहता है 'चेला' चले आओ। बड़ा भय है।' चेला बोलता है-'हा, महाराज चला आता हूं।' आगे मार्गमे एक कुआ मिला। चेलाने उन ईटोंको उठाकर कुए में पटक दिया। गुरूने कहा—चेला चले आओ आगे बड़ा भय है।' चेला बोला-'हा,महाराज! परवाह मत करो। अब आगे कुछ भय नहीं है।' तो परिग्रह ही बोझा है। इससे जितना २ ममत्व हटाओगे उतना २ सुख प्रकट होगा। जितना २ अपनाओगे उतना ही दुख मिलेगा।

एक जगह चार लुटेरे थे। वे कहीं से १०००) रु० लूटकर लाए। चोरोंने ढाई ढाई सौ रुपये आपसमे बाट लिए। एकने कहा-अरे, जरा बाजारमे मिठाई तो लाओ, सब मिलकर परस्पर बैठकर खावेंगे। उनमेंसे दो लुटेरे मिठाई लेने चल दिए। इन्होंने आपसमे सोचा यदि जहरके लाड्डू बनवाकर ले चले तो बड़ा अच्छा हो। वे दोनों खातेही प्राणान्त होंगे और इस तरह वे ५००) रुपये भी अपने हाथ लग जायेंगे। उधर उन्होंने भी यही विचार किया कि यदि वे ५००) रुपये अपने पास आजाएं तो बड़ा अच्छा हो उन दोनोंको मारनेके लिए उन्होंने भी

तीर बाण रख लिए। जब वे दोनों लड्डू लेकर आए तो इन्होंने तीर बाणसे उनका काम तमाम किया और जब उन्होंने लड्डू खाए तो वे भी दुनियासे चल बसे।

अत संसारमे परिग्रह ही पच पापोंक उत्पन्न होनेमें निमित्त होता है। जहां परिग्रह है, वहा राग है. और जहां राग है वहीं आत्माके आकुलता है तथा जहा आकुलता है, वहीं दुख है एव जहा दुख है वहा ही सुख गुणका घात है, और सुख-गुणके घातहीका नाम हिंसा है। ससारमें जितने पाप है उनकी जड़ परिग्रह है। परिग्रहके त्यागे बिना अहिंसा तत्त्वका पालन करना असम्भव है। भारतवर्षमें जो यज्ञादिकसे हिंसाका प्रचार होगया था, उसका कारण यही तो है, कि हमको इस यज्ञसे स्वर्ग मिल जावेगा, पानी बरस जावेगा, अन्नादिक उत्पन्न होंगे, देवता प्रसन्न होंगे यह सब क्या था ? परिग्रह ही तो था। यदि परिग्रहकी चाह न होती तो निरपराध जन्तुओंको कौन मारता ? आज यह परिग्रह पिशाच न होता तो हम उच्च हैं, आप नीच है, यह भेद न होता। यह पिशाच तो यहां तक अपना प्रभाव प्राणियों पर गालिब किए हुए है कि सम्प्रदायवादोंने धर्म तक को निजी मान लिया है। और उस धर्मकी सीमा बाध दी है। तत्त्वदृष्टिसे धर्म तो आत्माकी परिणति विशेषका नाम है, उस हमारा धर्म है यह कहना क्या न्याय है ? जो धर्म चतुर्गतिके प्राणियोंमे विकसित होता है उसे इने-गिने मनुष्योंका मानना क्या

न्याय है ? परिग्रह पिशाचकी ही यह महिमा है जो इस कूपका जल तीन वर्णोंके लिए है, इसमें यदि शूद्रोंके घड़े पड़ गये तब अपेय हो गया ! टट्टीमें होकर नल आजानेसे पेय बना रहता है ! अस्तु, इस परिग्रह पापसे ही संसारके सर्व पाप होते हैं।

एक थका हुआ मनुष्य कुए पर जाकर सो गया। वह

स्वप्नमें देखता है कि उसने किसी दुकान पर नौकरी की, वहांसे कुछ धन मिला तो एक जायदाद मोल ली। फिर वह देखता है कि उसकी शादी होगई और एक बच्चा भी उत्पन्न होगया। फिर वह देखता है कि बगलमें बच्चा सोया हुआ है और उसके बगलमें स्त्री पड़ी हुई है। अब उसकी स्त्री उससे कहती है कि जरा तनिक सरक जाओ, बच्चेको तकलीफ होती है। वह थोड़ा सरक जाता है। उसकी स्त्री फिर कहती है कि तनिक और सरक जाओ, तनिक और सरक जाओ। अन्ततोगत्वा वह थोड़ा सरकते सरकते धड़ामसे कुएमें गिर पड़ा। जब उसकी नींद खुली तो अपनेको कुएमें पड़ा हुआ पाया। बड़ा पछताने लगा। उधरसे एक मनुष्य उसी कुए पर पानी भरने आया। इसने नीचेसे आवाज दी भाई ! कुएमें से मुझे निकाल लो। उसने रस्सी डालकर उसको येन केन प्रकारेण कुएमे से बाहर निकाला जब वह निकल आया तो दूसरा मनुष्य पूछता है 'भाई-तुम कौन हो ?' उसने कहा पहिले तुम बतलाओ, तुम कौन हो ? वह बोला 'मैं एक गृहस्थी हूं।' उसने जबाब दिया 'जब एक

मुझ गृहस्थीकी यह दशा हुई तो तू दूसरा कैसे जिन्दा बचा आया।'

बन्धका स्वरूप

अब यहां पर बन्धका स्वरूप बतलाते हैं। निश्चयसे इस आत्माके केवल एक राग ही बन्धका कारण है। जैसे तेल मर्दन-युक्त पुरुष अखाड़ेकी भूमिमें रजकर बंधता है,—लिप्त होता है। वैसे ही रागादिककी चिकनाहट जीवको बन्धकी कराने वाली है। अब देखो लोक व्यवहारमें भी हिंसा उसे कहते हैं जिसने पर-जीवका घात किया हो। लेकिन परजीवका घातना यह बन्धका कारण नहीं है। बन्धका केवल अन्तरंगमें उसके मारनेके भाव हैं। आचार्योंने 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा' इस सूत्रको रच दिया। इसका मतलब यही कि प्रमादके निमित्तसे प्राणोंका वियोग करना हिंसा है। अतः प्रमादसे किसी भी कार्यको करना हिंसा है। तुमने प्रमादके वशसे कोई भी कार्य किया, चाहे। उसमें हिंसा हुई हो अथवा नहीं, लेकिन उसमें हिंसाका दूषण लग गया। अप्रमादमें यदि जीव हिंसा भी होगई तो उसमें हिंसा सम्बन्धी बन्ध नहीं; क्योंकि तुम्हारा काम केवल देखना और प्रमादको बिडारना था सो कर लिया। अतः सब अन्तरंगसे बन्धकी क्रिया होती है। बाह्य वस्तुओंसे कोई बन्ध नहीं होता यदि बाह्य वस्तुओंसे ही बन्ध होता तो समवसरणमें लक्ष्मी सहित जिनदेव विराजमान हैं पर फिर भी उनके बन्ध नहीं,

क्योंकि वहा अन्तरंगमे रागादिक कलुषता नहीं है। और क्या है ?

अब जो यह कहना कि मैं पर-जीवको जिलाता तथा मारता हूँ यह अध्यवसान करना भी मिथ्या है। प्रत्येक जीव अपनी आयुसे जीवित रहता है और आयुके निषेक पूरे होनेसे मरण प्राप्त करता है। कोई किसीकी आयुको न देता है, न हरता है। छत्रसालका नाम प्रसिद्ध है। भइया! जब इसके पिताके नगर पर मुगलोंने आक्रमण किया तो उसकी सारी सेना हार गई। कोई चारा न देखकर आप अपनी स्त्रीसमेत भागनेको एक घोडे पर सवार हुए। स्त्रीके उदरमें था गर्भ। ज्योंही वे भागनेको तैयार हुए उसी समय वह बच्चा पैदा हो गया। अब वे दोनों बहुत असमंजसमें पड़ गए कि अब क्या करना चाहिये। इधर तो बच्चेका जन्म है और उधरसे सेनाका आक्रमण। तो उन्होंने अपने प्राण बचानेके लिए बच्चेको एक तरफ फेंका तो वह मकोड़ोंके झाड़में जा पड़ा। उसके ठीक ऊपर था एक मधु-मक्खी का छत्ता। उसमेंसे एक २ बूंद शहदकी निकले और उस बच्चे के मुखमें जा पड़े। इस तरह सात दिवस व्यतीत हो गए। जब वे दोनों वापिस लौटे और बच्चेको वहा देखा तो हंसता खेलता हुआ पाया। उन्होंने उसे उठा लिया और नगरमे आकर फिर बड़ी खुशिया मनाईं। वही पुत्र वीर छत्रसाल नामसे प्रसिद्ध हुआ, जिसने आगे चलकर मुगलोंके दात खट्टे किए तो कहनेका

तात्पर्य यही कि जब मनुष्यकी आयु होती है तो उसको प्रायः ऐसे निमित्त मिल जाया करते हैं। और देखो नारदका भी जन्म इसी प्रकार होता है वैराग्य वृत्ति धारण कर वानप्रस्थाश्रम ग्रहण कर लेते हैं पर फिर उन दोनोंके काम वासना जाग्रत होती है तो वही उपद्रव वहां करते हैं। दोनोंके संभोगावस्थामे स्त्रीके गर्भ रह जाता है। उसी समय मुनिराज उन्हे सम्बोधन करते हुए कहते हैं 'अरे' तुमने यहा आकर भी ऐसा उपद्रव मचाया। यह तुम लोगोंने क्या किया? जिस दीक्षाको धारण कर आत्मा॰ कल्याण करना चाहिए था वहां तुमने आत्माको पतित बनाया। यदि ऐसा ही उपद्रव करना था तो घर बार काहेको छोड़ा था? ऐसी वाणीको सुनकर उन्हे तीव्र वैराग्य हो आता है। पुरुष तो पुन' दीक्षा लेकर विहार कर जाता है पर स्त्री बेचारी क्या करे? उसके उदरमे तो गर्भ है। अत. जब बालकका जन्म होता है तो वह स्त्री बच्चेको लेकर कहती है 'बेटा, यदि तेरी आयु है तो तू' यहा वनमे भी अनायास पाला जा सकता है और आयु शेष नहीं है तो मेरा आचलका दूध पीते हुए भी नहीं जी सकता। इतना कहकर बालकको वहीं पड़ा छोड़ आप भी पुन. दीक्षा लेकर अर्यिका हो जाती है। तब वही बालक आगे चलकर नारद होता है जो देवों द्वारा लाया जाकर ऋषियों द्वारा पाला जाता है तो मनुष्य आयुसे ही जीवित रहता है और आयु न होनेसे मरण प्राप्त करता है।

निश्चयसे केवल अन्तरंगका अध्यवसान ही बन्धका कारण होता है चाहे वह शुभ हो अथवा अशुभ। बाह्य वस्तुओं से बन्ध नहीं होता वह तो अध्यवसानका कारण है। इसीलिए चरणानुयोगकी पद्धतिसे बाह्य वस्तुओंका निषेध किया जाता है, क्योंकि जहां कारण होता है वहीं कार्यकी सिद्धि है। अतः आचार्योंने पराश्रित व्यवहार सभी छुड़ाया है केवल शुद्ध आनंद स्वरूप अपनी आत्माका ही अवलम्ब ग्रहण कराया है। अब देखिए सम्यग्दृष्टिके चारित्रको कुचारित्र नहीं कहा और द्रव्यलिंगी मुनि जो एकादश अंगके पाठी हैं फिर भी उनके चारित्र को कुचारित्र बतला दिया। तो केवल पढ़नेसे कुछ नहीं होता। जिस पठन-पाठनके फलस्वरूप जहां आत्माको बोधका लाभ होना चाहिए था वह नहीं हुआ तो कुछ भी नहीं किया। हम नित्य पुस्तकोंको खोलते हैं, उस पर सुन्दर सुन्दर पुट्ठे भी चढ़ाते हैं पर अन्तरंगका कुछ भी ख्याल नहीं करते तो क्या होता है?

अत. सब अन्तरंगसे ही बंधकी क्रिया होती है। यदि स्त्री भी त्यागी, घर भी त्यागा और दिगम्बर भी होगए, पर अन्तरंग-की रागद्वेषमयी परिणतिका त्याग नहीं हुआ तो कुछ भी त्याग नहीं किया। सांपने केचुलीका तो त्याग करदिया पर अन्तरंगका जो विष है उसका त्याग नहीं किया तो क्या फायदा? जब तक आभ्यन्तर परिग्रहका त्याग नहीं होता तब तक किञ्चित् भी त्याग नहीं कहलाता। अब देखिए, कुत्तेको लाठी मारी जाती है

तो वह तो लाठी पकड़ता है, परन्तु सिंहका यह कायदा है कि वह लाठीको न पकड़ मनुष्यको ही पकड़ता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि अन्तरंग परिग्रह जो रागादिक हैं। उन्हे हटानेका यत्न करता है पर मिथ्यात्वी ऊपरी टीपटापमे ही धर्म मान बैठता है। एक प्रात:कालकी लालामी है तो एक सायंकालकी लालामी। प्रात:काल की लालामी तो उत्तरकालमे प्रकाशकी कारण है और सायंकालकी लालामी उत्तर कालमे अन्धकारका कारण है। दोनों हैं लालामी ही। अत: यह सब अन्तरंगके परिणामोंका जाति है। सुदर्शन सेठको रानीने कितना फुसलाया पर वह अपने सम्यक् परिणामों पर दृढ बने रहे। तो बाह्यसे कुछ भी क्रिया करो, क्या होता है? हम लोग निमित्तोंको हटाने का प्रयत्न करते हैं अरे, निमित्तोंको हटानेसे होगा क्या? हम आपसे पूछते हैं। किस किस का निमित्त बनाकर हटाओगे? तीनों लोकोंमे निमित्तभरा पड़ा है। तो वह अन्तरंगका निमित्त हटाओ जिसकी वजहसे अन्य निमित्तोंका हटानेका प्रयत्न किया जाता है। तो अन्तरंगमें वह कलुषता हटानेकी आवश्यकता है। उस कलुषतासे ही बंध होता है। तुम चाहे कुछ भी कार्य करो पर अन्तरंगमें जैसे तुम्हारे अध्यवसान है उसीके अनुसार बन्ध होगा। एक मनुष्यने दूसरे को तलवारसे मारा तो तलवारको कोई फांसी नहीं देता। मनुष्य ही फांसी पर लटकता है। तो बाह्य वस्तुओंको त्यागनेकी आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है अन्तरंगके रागादिक त्यागकी सम्यक्त्वी क्रोध भी करता है पर अन्तरंग

से जानता है कि ये मेरे निज स्वभावकी चीज नहीं है। औदयिक परिणाम है मिटनेवाली चीज है। अत: त्यागनेका प्रयत्न करता है। यह त्यागको ही सर्वस्व मानता है। पंचम गुणस्थान देशव्रतमे अव्रतका त्याग किया, अप्रमत्तमे प्रमादका त्याग किया और आगे चढा तो सूक्ष्मसापरायमे लोभका त्याग किया और क्षीणमोहमें मोहका त्याग कर एक निज शुद्ध स्वरूपमें ही रह गया। इससे जैन धमका उपदेश त्याग-प्रधान है। हम लोग बाह्य वस्तुओंका त्याग कर अशान्तिको बढ़ा लेते हैं। अरे, त्यागका यह मतलब थोडे ही था। त्याग से तो सुख और शान्तिका उद्भव होना चाहिए था सो नहीं हुआ तो त्यागसे क्या लाभ उठाया ? त्यागका अर्थ ही अकुलताका अभाव है। बाह्य त्यागकी वहीं तक मर्यादा है जहा तक वह आत्मपरिणामोंमें निर्मलताका साधक हो। तो आभ्यन्तरपरिग्रहका त्याग परमावश्यक है। पर भइया परिग्रह त्याग बहुत मुश्किल है कोई सामान्य बात नहीं है। और परिग्रह से ही देखो सारे झगड़े हैं। अब तुम्हारे पाकेटमें दाम धरे हुए हैं तो उनके कट जानेका भय है। मुनि नने हैं तो उन्हे काहेका भय ? बताओ। तो परिग्रह त्यागमें ही सुख है। तुम परिग्रहको मत त्यागो पर दोष तो उसे जानो, मानो यह तो संसार बेलको बढ़ाने वाला है। भोजन खानेका निषेध नहीं है, परन्तु दोष तो उसे मानो समझो, उसमें मजा नहीं है। भगवानका पूजन भी करो परन्तु यह तो मानो कि साक्षात् मोक्षमार्ग नहीं है। अत. अन्तरंगमे एक केवल शुद्धात्माका ही अनुभव करो।

अब देखो कहते हैं कि हम तुम एक हैं। मोहकी महिमा तो देखो। हम और तुम अलग कहता ही जा रहा है और एक बतला रहा है कि हम तुम एक हैं। अब तुम देखो मुनिके पास जाओ तो क्या कहेंगे ? यही कि हम सरीखे हो जाओ। और क्या ? घर छोड़ो, बाल बच्चे छोड़ो, और नंग धड़ग हो जाओ तो भइया क्या करें उनके उसी चालका मोह है। जैनी कहते हैं कि सब संसार जैनी हो जाए। मुसलमान सबको मुसलमान हो जानेको कहते हैं और ईसाई सबको ईसाई बनाना चाहते हैं। तो सब अपनी अपनी ढपली अपना अपना राग अलापते है,- क्योंकि उनके पास उसी चालका मोह है। अतः मोहकी विलक्षण महिमा है। मुनि तो चाहते हैं कि सब संसार मुनि होजाए पर होय कैसे ? संसारका चक्र ही ऐसा चला आया है।

कोई कहे कि हमारी आत्मा तो भोजन करती ही नहीं इसलिए हम भोजन क्यों करे ? मत करो। कौन कहता है कि तुम भोजन करो। पर दो ही दिन बाद क्षुधाकी वेदना सताने लगेगी। क्यों ? मोह की सत्ता जो विद्यमान है। उसके होते हुए भोजन कैसे नहीं करोगे ? मोह जिनके नष्ट होगया है उनको कोई क्षुधाकी वेदना नहीं है। औदारिकशरीर होते हुए भी उसकी वेदना उनको नहीं सताती। अतः मोहमें ही क्षुधा लगती है। तो कार्य धीरे धीरे ही होता है। वृक्ष भी देखो समय पर ही

फूलता फलता है। एक मनुष्य था। वह मार्गमें चला जा रहा था। उसने एक बुढ़ियाको जाड़ेमें ठिठुरते हुए देखा। उस पर उसे दया आगई और अपना कम्बल उसे दे दिया। पर जाड़ा बहुत पड़ रहा था। उसे ठंड सहन नहीं हुई तो आप किसी मकानमें घुस गया और वहाँ छप्पड़ खींचने लग गया। 'कौन है' मकान वालेने पूछा। वह बोला, मैं हू धर्मात्माका दादा। वह तुरन्त आया और उससे छप्पर खींचनेका कारण पूछा। उसन कहा–मेरे पास एक कम्बल था सो मार्गमें मैंने एक बुढ़ियाको दे दिया। पर मुझे ठंड बहुत लग रही थी तो मैं यहां चला आया। मकान वालेने कहा–अरे, जब तुझ पर ठंड सहन नहीं हुई तो अपना कम्बल उस बुढ़ियाको ही क्यों दिया? वह चुप रहा और धीरेसे निकलकर अपना मार्ग जा नापा। तो तात्पर्य यही कि अपनी जितनी शक्ति हो उसीके अनुसार कार्य करना चाहिए। मान बड़ाईमें आकर शक्तिसे परे आचरण करना तो उल्टी अपनी पूंजी खोना है।

वास्तवमें यदि विचार किया जाय तो कल्याण करनेमें कुछ नहीं है। केवल उस तरफ हमारा लक्ष्य नहीं है। जब नकुल शूकर और वानर आदि तिर्यंचोंने अपना कल्याण कर लिया तो हम तो मनुष्य हैं, संज्ञी पंचेन्द्रिय हैं। क्या हम अपना कल्याण नहीं कर सकते? अवश्य कर सकते हैं।

मनुष्य यदि चाहे तो देवोंसे भी बड़ा बन सकता है। अभी त्याग मार्गको अपना ले तो आज वह देवोंसे बड़ा बन

जाय । तो मनुष्य वास्तवमें क्या नहीं कर सकता ? वह तप, यम, संयम सब कुछ पाल सकता है जो देवोंको परम दुर्लभ हैं वे देव यदि तप करना चाहें अथवा संयम पालना चाहें तो नहीं पाल सकते । ऊपरसे हजारों वर्ष तक नहीं खावें पर अन्तरंगमें तो उनको चाह खानेकी नहीं मिटती । तो मनुष्य पर्याय क्यों उत्तम बतलाई कि उसमें बाह्याभ्यंतर त्याग करनेकी शक्ति है । और देव ज्यादासे ज्यादा नंदीश्वर द्वीप चले गए, पंच कल्याणक के उत्सव देख लिए और क्या है ? चौथे गुणस्थानसे तो आगे नहीं बढ़ सकते । पर मनुष्य यदि चाहे तो चौदह गुणस्थान पार करसकता है यहा तक कि वह सर्वार्थ-सिद्धिके देवोंद्वारा पूजनीक हो सकता है । और तुम चाहो जो कुछ बन जाओ । चाहे पाप करके नरक चले जाओ । चाहे पुण्योपार्जन करके स्वर्गमें, और पाप-पुण्यको नाश कर चाहे मोक्ष चले जाओ । २५ गत्यागति हैं, चाहे किसीमें भी चले जाओ । यह तुम्हारे हाथ की बात है ।

अब माघनंदि आचार्यको ही देखो । दूसरे आचार्यने शिष्यसे कहा जाओ, उस माघनंदि आचार्यके पास, वही प्रश्नका उत्तर देंगे । तो क्या उनको उस प्रश्नका उत्तर नहीं आता था । पर क्या करें ? उनको किसी तरह जो अपना पद बतलाना था । अतः अपने पदको पहिचानो । यही एक अद्वैत है । उसीका केवल अनुभव करो । और देखो, यदि अनुभवमें आवे तो उसे मानो नातर जबर्दस्ती नहीं है । कुन्दकुन्दाचार्यने यही कहा कि

अनुभवमें आवे तो मानो नहीं तो मत मानो। जबर्दस्तीका मानना माननेमें मानना नहीं हुआ करता। कोई कहे आत्मा तो अमूर्तिक है, वह दिखती ही नहीं तो उसे देखनेकी क्या चेष्टा करें? तो कहते हैं कि वह दिखनेकी चीज ही नहीं है, अनुभव-गोचर है। अब लोकमें भी देखो जिसको वातरोग होजाता है उसका दुख वही जानता है। बाह्यमें वह रोग प्रकट नहीं दिखता पर जिसके दर्द है उसे ही अनुभव होता है। तो ऐसी बात नहीं। वह तो एक अनुभवकी चीज है। आचार्योंने स्पष्ट लिख दिया—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये

यह देव का स्वरूप है। निरारंभी गुरू है। दयामयी धर्म है। अथवा वस्तु स्वभाव है उसका वही धर्म है। यदि यह अनुभव में आवे तो मानो नातर मत मानो। अत जैसे आत्मा अनुभव में आवे वही उपाय श्रेयस्कर है।

अब कहते हैं कि सब द्रव्योंके परिणाम जुदे जुदे हैं। अपने अपने परिणामोंके सब कर्ता हैं। जीव अपने परिणामोंका कर्ता है और अजीव अपने परिणामोंका यह निश्चय नयका सिद्धान्त है। पर मनुष्यको जब तक भेद-ज्ञान प्रकट नहीं होता तब तक वह अपनेको परद्रव्योंका कर्ता अनुभव करता है। लेकिन पर-द्रव्योंका कर्ता त्रिकालमें नहीं होता। जैसे तन्तुवायने यों ताना बाना करके वस्त्र तैयार किया, पर तन्तुवायका क्या एक अंश भी

वस्त्रमें गया? वस्त्रका परिणमन वस्त्रमें हुआ और तन्तुवाय का परिणमन तन्तुवाय में। पर तन्तुवाय ने वस्त्र बनाया ऐसा सब कोई व्यवहारसे कहता है पर निश्चयसे ऐसा नहीं है। वस्त्रकी क्रिया वस्त्रमें ही हुई है। अतः वह वस्त्रका कर्ता नहीं है। ज्ञानी केवल अपने ज्ञानका कर्ता है। वह दूसरे ज्ञेयोंको जानता है। यदि पूर्वोपार्जित कर्मका उदय भी आता है तो उस कर्मफल को वह जानता ही है अतः समतासे भोग लेता है।

हम परद्रव्योंको अपनी मान लेते हैं तभी दुखी होते हैं। कोई इष्ट वस्तुका वियोग हुआ तो दुखी होकर चिल्लाने लगे। क्यों? उसे अपनी मान लिया। कोई अनिष्ट वस्तुका संयोग होगया तो आर्तध्यान करने लगे। यह सब पराई वस्तुको अपना माननेका कारण है। तो आपा मानना मिथ्या है। यदि पुत्र उत्पन्न हुआ समझो हमारा नहीं है, स्त्रीभी घरमें आई तो समझो पराई है। ऐसा समझने पर उनका वियोग भी हो जायगा तो तुम्हे दुख नहीं होगा। अब देखो, मुनि जब विरक्त हो जाते हैं तो स्त्रीसे ममत्व बुद्धि ही तो हटा लेते हैं। और जब वह स्त्री मुनिको पड़गाह लेती है तो क्या आहार नहीं लेते? और उनके हाथमें भोजन भी रखती है तो क्या आख मीच लेते हैं? नहीं। उसे देखते हैं, आहारको भी शोधकर खाते हैं पर उससे मूर्छा हटा लेते हैं दुनियां भरके कार्य करो कौन निषेध करता है? पुत्रको पालो, कुटुम्बको खिलाओ पर अपनेसे जुदा समझो। इसी तरह

पुद्गलको खिलाओ पिलाओ पर समझो हमारा नहीं है। यदि इसे खिलाओगे नहीं तो बताओ काम कैसे देगा ? अरे, हाड मांस चाम बने रहो इससे हमारा क्या बिगड़ता है ? बने रहो, पर इसे खिलाओ नहीं यह कहा का न्याय है ? इसे खिलाओ पिलाओ पर इससे काम भी पूरा लो। नौकरको मत खिलाओ तो देखें कैसे काम करेगा ? मुनि क्या शरीरको खिलाते नहीं हैं ? इसे खिलाते तो हैं पर उससे पूरा २ काम भी लेते हैं। पुद्गलको खिलाओ पिलाओ पर उसे अपना मत मानो। माननेमें ही कवल दोष है। रस्सी को सर्प मान लिया तो गिर रहे हैं, पड़ रहे हैं, चोट भी खा रहे हैं। तो यह क्यों ? केवल ज्ञानमें ही तो रस्सीकी कल्पना करली। और रस्सी कभी सर्प होती नहीं इसी तरह पुद्गल कभी आत्मा होता नहीं। पर अज्ञानसे मान लेते हैं। बस केवल यही भूल है। उस भूलको मिटाकर भेद-ज्ञान करो। समझो आत्मा और पुद्गल जुदा द्रव्य है। तो भइया उस तरफ हमारा लक्ष्य नहीं है। लक्ष्य करे तो संसार क्या है ?

एक लकड़हारा था। वह रोज एक मन लकड़ीका गट्ठा लाता और बाजारमें बेच देता। एक दिन उसने पण्डितजीसे व्याख्यान सुना। उसमें उन्होंने कहा कि यह पुद्गल जुदा और आत्मा जुदा है—यह सम्यग्दर्शन है। और फिर पंच पापोंका स्वरूप बतलाया। उसने सोचा मैं हिंसा तो करता ही नहीं हूं। और यह एक मन लकड़ीका गट्ठा लाता हू तो इस आठ आनेमें

बेच लिया करूंगा। मेरा यही एक भाव होगा। इस तरह झूठ भी नहीं बोलूंगा। मैं किसीकी चोरी तो करता ही नहीं हूं अतः चोरीका भी सहजमें त्याग हो जायगा। मेरे एक अकेली स्त्री है, इसलिए पर स्त्रीका भी त्याग कर दूंगा। और पाचवां परिग्रह प्रमाण है। तो मुझे लकड़ी बेचनेमें आठ आने मिलेंगे ही। उसमे तीन आने तो खानेमें खर्च लूगा, दो आने बचाऊंगा, एक आना दान करूंगा और दो आने कपड़े आदिमें खर्च करूंगा। इस तरह परिग्रह प्रमाण भी कर लूगा। ऐसा सोच कर उसने उसी समय पच पापोंका त्याग कर दिया। अब रोज-मर्रा वह लकड़ी लाता और बाजारमें बेचनेको रखदेता। उसके पास ग्राहक आते और पूछते 'क्या लकड़ी बेचेगा?' वह बोलता 'बेचनेके लिए ही तो लाया हूँ।' ग्राहक कहते 'क्या दाम लेगा'? वह बोलता 'आठ आने'। वे कहते कुछ कम करेगा वह कहता 'नहीं, महाराज! मेरी एक मन लकड़िया हैं, इसे तौलकर देखलो यदि ज्यादा होंय तो दाम देना, नहीं मत देना'। जब उन्होंने तोलकर देखा तो ठीक एक मन निकली। उसे उन्होंने आठ आने देदिए। इस तरह रोज उसको लकड़ी बिक जाया करती। एक दिन जब वह लकड़ी ले जारहा था तो रास्तेमें एक नौकरने आवाज दी 'अरे, क्या लकड़ी बेचेगा?' उसने कहा 'हा' 'क्या दाम लेगा' नौकरने पूछा। उसने कहा 'आठ आने'। 'सात आने लेगा' नौकर बोला। उसने कहा 'नहीं' फिर उसने

बुलाया और कहा 'अच्छा, साढ़ेसात आने लेगा'। वह बोला 'अरे, तू किस बेवकूफका नौकर है। एक बार कह दिया नहीं लूंगा। ऊपरसे उसका सेठ सुन रहा था। वह एक दम गरम होके नीचे आया और बोला 'अबे, क्या बकता है ?' उसने कहा 'ठीक कहता हू।' यदि तुम सत्य बोलते तो क्या तुम्हारा असर इस नौकर पर नहीं पड़ता। सेठ और भी क्रोधित हुआ। उसने फिर कहा 'यदि तुम क्रोधित होओगे तो मैं तुम्हारी पोल खोल दूंगा। तुम महा बदमाश पर-स्त्री-लपटी हो। इतने दिनों तक शास्त्र श्रवण किया पर कुछ भी असर नहीं हुआ। मैंने एक बार ही सुनकर पंच पापोंका त्याग कर दिया। सेठ उसके ऐसे वचनो सुनकर एक दम सहम गया। गर्ज यह है कि उसने भी उस समय पंच पापोंका त्याग कर दिया। तो देखो, उस पर वक्ताका असर नहीं पड़ा और उस लकड़हार का उपदेश लग गया। तो हम सुमार्ग पर चलते हैं तब दूसरों पर असर पड़ता है। हम रोते है कि हमारे बच्चे कहना नहीं मानते। अरे, माने कैसे ? तुम तो सुमार्ग पर चलते नहीं हो वे कैसे तुम्हारा कहना माने। बताओ। तुम तो स्वय शुद्ध भोजन करते नहीं फिर कहते हो कि बीमार पड़ गए। ये जितनी भी बीमारियां होती है सब अशुद्ध भोजन खानेसे होती हैं। तुम तो बाजार से चाट उड़ाओ और घर आकर अपनी स्त्रीसे कहो कि बाजारका मत खाओ। और कदाचित खा भी ले तो फिर कहते हो हमारी स्त्री बीबी

बन गई। अरे बीबी नहीं, वह तो बाबा हो जायगी। आप स्वय शुद्ध भोजन करनेका नियम तो लो, वह दूसरे दिन स्वयं शुद्ध बनाने लगेगी। यदि तुम्हे फिर भी शुद्ध भोजन न मिले तो चक्की लेकर बैठ जाओ। दूसरे दिन वह स्वय अपने आप पीसना शुरू कर देगी। तुम तो पर-स्त्री-लपटी बनो और स्त्रीको ब्रह्मचर्यका उपदेश करो। आप तो रावण बनो और स्त्रीसे सती सीता बननेकी आशा करो। कैसा अन्याय है? ध्यान दो-यदि स्त्रीको सीता रूपमे देखना चाहते हो तो तुम स्वयं राम बनो, राम जैसे काय करो। तभी तुम्हारी कामनाए सफल होंगी।

तुम कहते हो कि जितने भी त्यागी आते हैं वह यही उपदेश करते हैं कि यह त्यागो, वह त्यागो। तो वह तो तुम्हारे हितका ही उपदेश करते हैं। अरे, तुम पर वस्तुओंको अपना माने हुए हो तभी तो वह त्यागनेका उपदेश करते हैं। और चोरटापन क्या है? पराई वस्तुको अपनी मानना यही तो चोरटापन है। तो वह तुम्हारा यह चोरटापन छुड़वाना चाहते हैं और वह तुम्हें बुरा लगता है। हा, यदि तुम्हारे निजकी चीज छुड़वाए तो तुम कह सकते हो। ज्ञान दर्शन तुम्हारी चीज है। उसे अपनाओ। लेकिन परद्रव्योंको क्यों अपनाते हो? यह कहांका न्याय है? अत. वह तुम्हारे हितका ही उपदेश करते हैं।

इस जीवके अनादिसे चार संज्ञाए लग रही हैं। अब बताओ आहार करना कौन सिखलाता है? इसी तरह पुद्गलमे

भी इसकी आत्मीय बुद्धि लग रही है। अब देखो यह लाल कपड़ा हम पहिने हुए हैं। तो इस लाल कपड़ेको पहिननेसे क्या यह शरीर लाल हो जाता है ? यह कपड़ा इतना लम्बा चौड़ा है, इतना मोटा पतला है तो क्या यह शरीर इतना लम्बा चौड़ा दुबला पतला होजाता है ? इसी तरह यह शरीर कभी आत्मा होता नहीं। इस शरीरमें जो पूरण गलन स्वभाव है वह कभी आत्माका नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि जो पुद्गलकी क्रिया है वह त्रिकालमें आत्माकी क्रिया नहीं है। अपनी वस्तुको अपना मानना ही बुद्धिमानोंका कार्य है।

तो भइया यह कोई बड़ी बात नहीं है। उस तरफ केवल हमारा लक्ष्य ही नहीं है। पर कमसे कम इतना तो जरूर होजावे कि इस पुद्गलसे यह अभिप्राय हटा ले कि 'इदम् मम' यह मेरा है। श्रद्धामें यह तो बिलकुल जम जावे। हम तो कहते हैं कि चारित्रको पालो या मत पालो कोई हर्ज नहीं। गृहस्थोंके त्यागकी भी आवश्यकता नहीं। पर यह श्रद्धान तो दृढ़ होजाना चाहिए। अरे, चारित्र तो कालान्तर पाकर हो ही जायगा। जब यह जान लिया कि यह मेरी चीज नहीं है तो उसे छोड़नेमें कोई बड़ी भारी बात नहीं। अब तीर्थंकरोंको ही देखिए। जब तक आयु पूर्ण न होय तब देखें मोक्ष कैसे चले जाँय। तो श्रद्धानमें यह निश्चय बैठ जाना कि न मैं पुद्गलका हूँ और न पुद्गल मेरा है। इसके

बिना करोड़ों जप तप करो कुछ फलदायी नहीं। अतः श्रद्धामें अमोघ शक्ति है।

त्यागका वास्तविक रूप

आज आकिञ्चन्य धर्म है पर दो द्वादशी हो जानेसे आज भी त्याग धर्म माना जायगा। त्यागका स्वरूप कल आप लोगोंने अच्छी तरह सुना था। अब उसके अनुसार कुछ काम करके दिखलाना है।

मूर्च्छाका त्याग करना त्याग कहलाता है। जो चीज आपकी नहीं है, उसे आप क्या छोड़ेंगे? वह तो छूटी ही है। रुपया, पैसा धन दौलत सब आपसे जुदे हैं। इनका त्याग तो है ही। आप इनमे मूर्च्छा छोड़ दो, लोभ छोड़ दो, क्योंकि मूर्च्छा और लोभ तो आपका है—आपकी आत्माका विभाव है। धनका त्याग लोभ कषायके अभावमें होता है। लोभका अभाव होनेसे आत्मामे निर्मलता आती है। यदि कोई लोभका त्यागकर मान करने लग जाय- दान करके अहङ्कार करने लग जाय तो वह मान कषायका दादा हो गया। 'चूल्हेसे निकले भाड़में गिरे' जैसी कहावत होगई। सो यदि एक कषायसे बचते हो तो उससे प्रबल दूसरी कषाय मत करो।

देखें, आप लोगोंमे से कोई त्याग करता है या नहीं। मैं तो आठ दिनसे परिचय कर रहा हू। आज तुम भी करलो। इतना काम तुम्हीं करलो।

एक आदमीसे एकने पूछा-आप रामायण जानते हो तो बताओ उत्तरकांड में क्या है ? उसने कहा-अरे, उत्तर—काडमें क्या धरा ? कुछ ज्ञान ध्यानकी बातें हैं। अच्छा, अरण्य काडमे क्या है ? उसमें क्या धरा ? अरण्य वनको कहते हैं, उसीकी कुछ बातें हैं। लङ्काकाण्डमे क्या है ? अरे, लङ्काको कौन नहीं जानता ? वही तो लङ्का है जिसमे रावण रहा करता था। भैया ! अयोध्याकाडमे क्या है ? बड़ी बात पूछी उसमें क्या है ? वही तो अयोध्या है जिसमे रामचन्द्रजी पैदा हुए थे। अच्छा, बाल-कांडमें क्या है ? खूब रही, इतने काण्ड हमने बताए, एक काण्ड तुम्हीं बतला दो। सभी काण्ड हम ही से पूछना चाहते हो। इसी प्रकार हमारा भी कहना है कि इतने धर्म तो हमने बतला दिए। अब एक त्यागधर्म तुम्हीं बतलादो। और हमसे जो कुछ कहो सो हम त्याग करनेको तैयार हैं-कहो तो चले जायें। (हसी)। आपके त्यागसे हमारा लाभ नहीं-आपका लाभ है। आपकी समाजका लाभ है, आपके राष्ट्रका लाभ है। हमारा क्या है ? हमें तो दिनमे दो रोटियाँ चाहिए, सो आप न दोगे, दूसरे गांववाले दे देंगे। आप लुटिया न उठाओगे तो (क्षुल्लकजीके हाथसे पीछी हाथमें लेकर) यह पीछी और कमण्डलु उठाकर स्वयं बिना बुलाए आपके यहा पहुंच जाऊंगा। पर अपना सोचलो, आज परिग्रह के कारण सबकी आत्मा हाथका इशारा कर यों काप रही है। रात दिन चिन्तित है —कोइ न ले

जाय । कथनेमें क्या धरा ? रक्षाके लिये तैयार रहो। शक्ति सञ्चित करो। दूसरेका मुंह क्या ताकते हो ? या अटूट श्रद्धान रक्खो जिस कालमें जो बात जैसी होने वाली है वह उस कालमें वैसी होकर रहेगी।

यद्भावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा।
नग्नत्वं नीलकण्ठस्य महाहिशयनं हरे.॥

यह नीति बच्चोंको हितोपदेशमें पढ़ाई जाती है। जो काम होने वाला नहीं वह नहीं होगा और जो होने वाला है वह अन्यथा प्रकार नहीं होगा। महादेवजी तो दुनियाके स्वामी थे पर उन्हें एक वस्त्र भी नहीं मिला। और हरि (कृष्ण) संसारके रक्षक थे उन्हें सोनेके लिए मखमल आदि कुछ नहीं मिला क्या मिला ? सर्प।

"जो जो देखी वीतरागने सो सो होसी वीरा रे।
अनहोनी कबहु नहिं होसी काहे होत अधीरा रे॥"

होगा तो वही जो वीतरागने देखा है, जो बात अनहोनी है वह कभी नहीं होगी।

दिल्लीकी बात है। यहां ला० हरजसराय (?) रहते थे। करोड़पति आदमी थे। बड़े धर्मात्मा थे। जिन-पूजनका नियम था। जब संवत् १४ (?) की गदर पड़ी तब सब लोग इधर उधर भाग गये। इनके लड़कोंने कहा—पिताजी! समय खराब है, इसलिए स्थान छोड़ देना चाहिए। हरजसरायने कहा--तुम लोग

आओ, मैं वृद्ध आदमी हूं। मुझे धनकी आवश्यकता नहीं। हमारे जिनेन्द्र की पूजा कौन करेगा? यदि आदमी रखा जायगा तो वह भी इस विपत्तिके समय यहाँ स्थिर रह सकेगा, यह सम्भव नहीं। पिताके आग्रहमें लड़के चले गये। एक घण्टे बाद चोर आये। हरजसरायने स्वयं अपने हाथों सब तिजोरियां खोल दीं चोरोंने सब सामान इकट्ठा किया। लेजानेको तैयार हुए, इतनेमें एकाएक उनके मनमें विचार आया कि कितना भला आदमी है? इसने एक शब्द भी नहीं कहा। लूटनेके लिए सारी दिल्ली पड़ी है? कौन यही एक है, इस धर्मात्माको सताना अच्छा नहीं। हरजसरायने बहुत कहा, चोर एक कणिका भी नहीं ले गये। और दूसरे चोर आकर इसे तङ्ग न करें, इस ख्यालसे उसके दरवाजे पर ५ डाकुओंका पहरा बैठा गये। मेरा तो अब भी विश्वास है कि जो इतना दृढ़ श्रद्धानी होगा उसका कोई बाल बांका नहीं कर सकता। "बाल न बाका कर सके जो जग ही रिपु होय" जिसके धर्म पर अटल विश्वास है सारा संसार उसके विरुद्ध होजाये तो भी उसका बाल बांका नहीं हो सकता। तुम ऐसा विश्वास करो, तुम्हारा कोई कुछ भी बिगाड़ ले तो मैं जिम्मेदार हूँ, लिखालो मुझसे।

मैं श्रद्धाकी बात कहता हूं। बरूआसागरमें मूलचन्द था बड़ा श्रद्धानी था। उसके पांच विवाह हुए थे। पांचवीं स्त्री के पेटमें गर्भ था। कुछ लोग बैठे थे, मूलचन्द था। किसीने कहा

के मूलचन्द्रके बच्चा होगा, किसीने कहा बच्ची होगी इस प्रकार सभीने कुछ न कुछ कहा। मूलचन्द्र मुझसे बोला — आप भी कुछ कह दो। मैंने कहा भैया! मैं निमित्तज्ञानी तो हूँ नहीं जो कह दूं कि यह होगा। वह बोला—जैसी एक एक गप्प इन लोगोंने छोड़ी वैसी आप भी छोड़ दीजिए। मुझे कह आया कि बच्चा होगा और उसका श्रेयासकुमार नाम होगा। समय आने पर उसके बच्चा हुआ। उसने तार देकर बाईजीको तथा मुझे बुलाया। हम लोग पहुच गये। बड़ा खुश हुआ। उसने खुशीमे बहुत सारा गल्ला गरीबोंको बॉटा और बहुतोका कर्ज छोड़ दिया। नाम-सस्करणके दिन एक थाली में सौ दो-सौ नाम लिख-कर रक्खे और एक पाच वर्षकी लड़कीसे उनमेंसे एक २ कागज निकलवाया। सो उसमे श्रेयासकुमार नाम निकल आया। मैंने तो गप्प ही छोड़ी थी पर वह सच ही निकल आई। एक बार श्रेयासकुमार बीमार पड़ा तो गावके कुछ लोगोंने मूलचन्द्रसे कहा कि एक सोने का राक्षस बनाकर कुएको चढ़ा दो। मूलचन्द्र ने बड़ी दृढताके साथ उत्तर दिया कि यह लड़का मर जाय, मूलचन्द्र मर जाय, उसकी स्त्री मर जाय, सब मर जाय, पर मैं राक्षस बनाकर नहीं चढा सकता। श्रेयासकुमार उसके पाच विवाह बाद उत्पन्न एक ही लड़का था। फिर भी अपना श्रद्धान तो यही कहता है। जो मौका आने पर विचलित हो जाते है उनके श्रद्धान मे क्या धरा है?

यह पञ्चाध्यायी ग्रंथ है। इसमे लिखा है कि सम्यग्दृष्टि निःशङ्क होता है—निर्भय होता है। मैं आपसे पूछता हू कि उसे

भय है ही किस बातका ? 'वह अपने आपको जब अजर अमर, अविनाशी पर-पदार्थोंसे भिन्न श्रद्धान करता है' उसे जब इस बातका विश्वास है कि परपदार्थ मेरा नहीं है, मैं अनाद्यनन्त नित्योद्योत विशद ज्ञान ज्योति स्वरूप हूँ। मैं एक हू। परपदार्थ से मेरा क्या सम्बन्ध ? अणुमात्रभी पर द्रव्य मेरा नहीं है। हमारे ज्ञानमें ज्ञेय आता है पर वह भी मुझसे भिन्न हैं। मैं रसको जानता हूँ पर रस मेरा नहीं हो जाता। मैं नव पदार्थोंको जानता हूँ पर नव पदार्थ मेरे नहीं हो जाते। भगवान कुन्द कुन्द-स्वामी ने लिखा है—

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसण णाणमइयो सदाऽरूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणु मित्तं पि॥

मैं एक हूं, शुद्ध हू दर्शन, ज्ञानमय हूँ, अरूपी हूँ। अधिककी बात जाने दो परमाणुमात्र भी परद्रव्य मेरा नहीं है।

पर बात यह है कि हम लोगोंने तिलीका तेल खाया है, घी नहीं। इसलिये उसे ही सब कुछ समझ रहे हैं। कहा है —

तिलतैलमेव मिष्ट येन न दृष्टं घृतं क्वापि।
अविदितपरमानन्दो जनो वदति विषय एव रमणीय.॥

जिसने वास्तविक सुखका अनुभव नहीं किया वह विषय सुखको ही रमणीय कहता है। इस जीवकी हालत उस मनुष्य के समान हो रही है जो सुवर्ण रखे तो अपनी मुट्ठीमें है पर खोजता फिरता है अन्यत्र। अन्यत्र कहा धरा है ? आत्माकी चीज आत्मामेही मिल सकती है।

एक भद्र प्राणी था। उसे धर्मकी इच्छा हुई। मुनिराजके पास पहुँचा, मुझे धर्म चाहिए। मुनिराजने कहा-भैया ? मुझे और बहुत सा काम करना है। अतः अवसर नहीं। इस पास की नदी में चले जाओ इसमें एक नाकू रहता है। मैंने उसे अभी अभी धर्म दिया है वह तुम्हे दे देगा। भद्रप्राणी नाकूके पास जाकर कहता है कि मुनिराजने धर्मके अर्थ मुझे आपके पास भेजा है धर्म दीजिए। नाकू बोला, अभी लो एक मिनिटमें लो, पर पहिले एक काम मेरा करदो। मैं बडा प्यासा हूँ, यह सामने किनारे पर एक कुआ है उससे लोटा भर पानी लाकर मुझे पिलादो, फिर मैं आपको धर्म देता हूँ। भद्रप्राणी कहता है तू बडा मूर्ख मालूम होता है, चौबीस घण्टे तो पानी में बैठा है और कहता है कि मैं प्यासा हूँ। नाकूने कहा कि भद्र! जरा अपनी ओर भी देखो। तुम भी चौबीसों घण्टे धर्ममें बैठे हो इधर उधर धर्मकी खोज में क्यों फिर रहे हो ? धर्म तो तुम्हारी आत्माका स्वभाव है, अन्यत्र कहाँ मिलेगा ?

सम्यग्दृष्टि सोचता है जिस कालमे जो बात होने वाली होती है उसे कौन टाल सकता है ? भगवान् आदिनाथ को ६ माह आहार नहीं मिला। पांण्डवोंको अन्त मुहूर्तमें केवलज्ञान होने वाला था, ज्ञान कल्याणक का उत्सव करने के लिए देवलोग आने वाले थे। पर इधर उन्हे तप्त लोहेके जिरहबख्तर पहिनाये जाते हैं। देव कुछ समय पहिले और आ जाते ? आ कैसे जाते

होना तो वही था जो हुआ था। यही सोच कर सम्यग्दृष्टि न इस लोकसे डरता है, न पर लोकसे। न उसे इस बातका भय होता है कि मेरी रक्षा करने वाले गढ, कोट आदि कुछ भी नहीं है। मैं कैसे रहूगा ? न उसे आकस्मिक भय होता है और सबसे बडा मरणका भय होता है सो सम्यग्दृष्टिको वह भी नहीं होता। वह अपनेको सदा अनाद्यनन्त नित्योद्योत विशद ज्ञानज्योति स्वरूप, मानता है। सम्यग्दृष्टि जीव संसारसे उदासीन होकर रहता है। तुलसीदासने एक दोहे में कहा है—

'जग तै रहु छत्तीस हो रामचरण छह तीन।'

संसारसे छत्तीस ३६ के समान विमुख रहो और रामचन्द्रजीके चरणों मे ६३ के समान सम्मुख।

वास्तवमे वस्तुतत्त्व यही है कि सम्यग्दृष्टिकी आत्मा बड़ी पवित्र हो जाती है, उसका श्रद्धान गुण बड़ा प्रबल होजाता है। यदि श्रद्धान न होता तो आपके गॉवमें जो २८ उपवास वाला बैठा है वह कहांसे आता ? इस लड़कीके (काशीबाईकी ओर सकेत करके) आज आठवा उपवास है। नथा कहीं बैठा होगा। उसके बारहवा उपवास है और एक एक, दो दो उपवास-वालोंकी तो गिनती ही क्या है ? 'अलमा कौन पियादों में' ? वे तो सौ दो- सौ होंगे। यदि धर्मका श्रद्धान न होता तो इतना क्लेश फोकटमे कौन सहता ?

व्याख्यानकी बात थी सो तो हो चुकी। अब आपके नगरके एक बड़े आदमीका कुछ आग्रह है सो प्रकट करता हूँ। भैया! मैं तो ग्रामोफोन हूँ, चाहे जो बजा लेता है—जो मुझे जैसी कहता है वैसी ही कह देता हूँ। इन बड़े आदमियोंकी इतनी बात माननी पड़ती है, क्योंकि उनका पुण्यही ऐसा है। अभी यहां बैठनेको जगह नहीं है पर सेठ हुकमचन्द्र आ जाय तो सब कहने लगेगे, इधर आओ, इधर आओ। अरे, हमारी तुम्हारी बात जाने दो, तीर्थंकरोंकी दिव्यध्वनि तो समय पर ही खिरती है पर यदि चक्रवर्ती पहुँच जाय तो असमयमे भी खिरने लगती है। अपने रागद्वेष है पर उनके तो नहीं है। चक्रवर्तीकी पुण्यकी प्रबलतासे भगवानकी दिव्यध्वनि अपने आप खिरने लगती है। हाँ, तो यह सिंघईजी कह रहे हैं कि महिलाश्रमके लिए अभी कुछ हो जाय तो अच्छा है फिर मुश्किल होगा। भैया? मैं विद्यालयको तो मागता नहीं और उस वक्त भी नहीं मागे थे, पर बिना मांगे ही सेठ २५०००) दे गया तो मैं क्या करूं मैं तो बाहरकी संस्थाओं को देता था, पर मुझे कह आया कि यदि सागर इतने ही और देवे तो सब यहीं ले ले। आप लोगोंने बहुत मिला दिए। कुछ बाकी रह गए सो आप लोग अपना वचन न निभाओगे तो किसीसे भीख माग दूंगा। यह बात महिलाश्रमकी है जैसे बच्चे तैसे बच्चियां। आपकी तो हैं। इनकी रक्षामे यदि आपका द्रव्य लगता है तो मैं समझना

हूँ अच्छा ही होरहा है। पाप करके लक्ष्मीका संचय जिनके लिए करना चाहते हो वे उसके फल भोगने में शामिल न होंगे। बाल्मीकि का किस्सा है। बाल्मीकि जो एक बड़ा ऋषि माना जाता है, चोरी डकैती करके अपने परिवारका पालन करता था। उसके रास्ते जो कोई निकलता उसे वह लूट लेता था। एक बार एक साधु निकले। उनके हाथमें कमण्डलु था। बाल्मीकिने कहा रखदो यहा कमण्डलु। साधुने कहा-बच्चे यह तो डकैती है, इसमें पाप होगा। बाल्मीकिने कहा-मैं पाप पुण्य कुछ नहीं जानता, कमण्डलु रखदो। साधुने कहा-अच्छा, मैं यहां खड़ा रहूँगा, तुम अपने घरके लोगोंसे पूछ आओ कि मै एक डकैती कर रहा हूं उसका जो फल होगा उसमें शामिल हो, कि नहीं? लोगों ने टका सा जबाब दे दिया तुम चाहे डकैती करके लाओ चाहे साहुकारी से। हमलोग तो खाने भरमें शामिल हैं। बाल्मीकि को बात जम गई और वापिस आकर साधुसे बोला--बाबा मैंने डकैती छोड दी। आप मुझे अपना चेला बना लीजिए।

बात वास्तविक यही है। आप लोग पाप-पुण्यके द्वारा जिनके लिए सम्पत्ति इकट्ठी कर रहे हो वे कोई साथ देने वाले नहीं है। अत समय रहते सचेत हो जाओ। देखें आप लोगोंमें से कोई हमारा साथ देता है या नहीं।

(अहिंसा-तत्व)

अहिंसातत्त्व ही एक इतना व्यापक है जो इसके उदरमें सर्व धर्म आ जाते हैं जैसे हिंसा पापमे सब पाप गर्भित हो

जाते हैं। सर्वसे तात्पर्य चोरी, मिथ्या, अब्रह्म और परिग्रहसे है क्रोध, मान, माया, लोभ ये सर्व आत्मगुणके घातक हैं अतः ये सर्व पाप ही हैं। इन्हीं कषायोंके द्वारा आत्मा पापोंमे प्रवृत्ति करता है तथा जिनको लोकमें पुण्य कहते हैं वह भी कषायों के सद्भावमें होते हैं। कषाय आत्माके गुणोंके घातक हैं अत' जहां भी आत्माके चारित्रगुणका घात है और इसलिये वहां भी हिंसा ही है। अत' जहां पर आत्माकी परिणति कषायोंसे मलीन नहीं होती वहीं पर आत्माका अहिंसा-परिणाम विकास रूप होता है उसीका नाम यथाख्यातचारित्र है। जहां पर रागादिक परिणामोंका अंश भी नहीं रहता उसी तत्त्वको आचार्योंने अहिंसा कहा है—

'अहिंसा परमो धर्म यतो धर्मस्ततो जयः' श्रीअमृतचन्द्र स्वामीने उसका लक्षण यों कहा है:—

अप्रादुर्भाव. खलु रागादीना भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेप.॥

'निश्चय कर जहा पर रागादिक परिणामोंकी उत्पत्ति नहीं होती वहीं अहिंसाकी उत्पत्ति है और जहां रागादिक परिणामोंकी उत्पत्ति होती है वहीं पर हिंसा होती है। ऐसा जिनागमका सक्षेपसे कथन जानना'। यहा पर रागादिकोंसे तात्पर्य आत्माकी परिणति विशेष से है-परपदार्थमें प्रीतिरूप परिणामका होना राग तथा अप्रीतिरूप परिणामका नाम द्वेष, और तत्त्वकी अप्रतीति रूप परिणामका होना मोह अर्थात् राग, द्वेष मोह ये तीन आत्माके विकार भाव हैं। ये जहा पर होते हैं वहीं आत्मा कलिल (पाप) का सचय करता है, दुखी होता है, नाना प्रकार पापादि कार्योंमें प्रवृत्ति करता है। कभी मन्द राग हुआ तब परोपकारादि-

कार्योंमें व्यग्र रहता है, तीव्र रागद्वेष हुआ तब विषयोंमें प्रवृत्ति करता या हिंसादि पापोंमें मग्न हो जाता है। कहीं भी इसे शांति नहीं मिलती। यह सर्व अनुभूत विषय है। और जब रागादि परिणाम नहीं होते तब शांतिसे अपना जो ज्ञाता दृष्टा स्वरूप है उसीमें लीन रहता है। जैसे जलमे पंकके सम्बन्धसे मलिनता रहती है, यदि पंकका सम्बन्ध उससे पृथक हो जावे तब जल स्वय निर्मल हो जाता है। तदुक्तं-'पंकापाये जलस्य निर्मलतावत्।' निर्मलताके लिये हमे पंकको पृथक करनेकी आवश्यकता है अथवा जैसे जलका स्वभाव शीत है, अग्निके सम्बन्धसे, जलमें उष्ण पर्याय हो जाती है, उस समय जल देखा जावे तो उष्ण ही है। यदि कोई मनुष्य जलको शीत स्वभाव मान कर पान करजावे तब वह नियमसे दाह भावको प्राप्त होजावेगा। अतएव जलको शीत करनेके वास्ते आवश्यकता इस बातकी है कि उसको किसी दूसरे वर्तनमें डालकर उसकी उष्णता पृथक कर दी जाय, इसी प्रकार आत्मामे मोहोदयसे जो रागादि परिणाम होते हैं वे विकृत-भाव है। उनके न होनेका यही उपाय है जो वर्तमानमे रागादिक हों उनमे उपादेयताका भाव त्यागे, यही आगामी न होनेमे मुख्य उपाय है। जिनके यह अभ्यास होजाता है उनकी परिणति सन्तोषमयी होजाती है। उनका जीवन शान्तिमय बीतता है, उनके एक बार ही पर-पदार्थोंसे निजत्व बुद्धि मिट जाती है। और जब परमे निजत्वकी कल्पना मिट जाती है तब सुतरां रागद्वेष नहीं होते। जहां आत्मामे रागद्वेष नहीं होंते वहीं पूर्ण अहिंसाका उदय होता है। अहिंसा ही मोक्ष-मार्ग है। वह आत्मा फिर आगामी अनन्त काल तक जिस रूपसे परिणम गया, उसी रूप रहता है। जिन भगवानने यही

अहिंसाका तत्व बताया है—अर्थात् जो आत्माएं रागद्वेष मोह के सद्भावसे मुक्त हो चुकी हैं उन्हींका नाम जिन है। वह कौन है ? जिसके यह भाव हो गये वही जिन है। उसने जो कुछ पदार्थका स्वरूप दर्शाया उस अर्थके प्रतिपादक जो शब्द हैं उसे जिनागम कहते हैं। परमार्थमें देखा जाय तो, जो आत्मा पूर्ण अहिंसक हो जाती है उसके अभिप्रायमें न तो परके उपकारके भाव रहते हैं और न अनुपकारके भाव रहते हैं। अतः न उनके द्वारा किसीके हितकी चेष्टा होती है और न अहितकी चेष्टा होती है किन्तु जो पूर्वोपार्जित कर्म है वह उदयमें आकर अपना रस देता है। उस कालमें उनके शरीरसे जो शब्द वर्गणा निकलती है उससे क्षयोपशम ज्ञानी वस्तु-स्वरूपके जाननेके अर्थ आगम रचना करते हैं।

आज बहुतसे भाई जैनोंके नामसे यह समझते हैं कि एक जाति विशेष है। यह समझना कहा तक तथ्य है, पाठकगण जाने। वास्तवमें जिसने आत्माके विभाव भावों पर विजय पा ली वही जैन है। यदि नामका जैनी है और उसने मोहादि कलकों को नहीं जीता तब वह नाम 'नाम का नैनसुख आँखोंका अन्धा' की तरह है। अतः मोह विकल्पोंको छोड़ो और वास्तविक अहिंसक बनो।

वास्तवमें तो बात यह है कि पदार्थ अनिर्वचनीय है कोई कह नहीं सकता। आप जब मिसरी खाते हो तब कहते हो मिसरी मीठी होती है-जिस पात्रमें रक्खी है वह नहीं कहता, क्योंकि जड़

है। ज्ञान चेतन है वह जानता है मिसरी मीठी होती है। परन्तु यह भी कथन नहीं बनता, क्योंकि यह सिद्धान्त है कि ज्ञान ज्ञेयमें नहीं जाता और ज्ञेय ज्ञानमे नहीं जाता। फिर जब मिसरी ज्ञानमें गई नहीं तब मिसरी मीठी होती है, यह कैसे शब्द कहा जा सकता है? अथवा जब ज्ञानमें ही पदार्थ नहीं आता तब शब्दसे उसका व्यवहार करना कहा तक न्याय-सगत है। इससे यह तात्पर्य निकला कि मोह परिणामोंसे यह व्यवहार है अर्थात् जब तक मोह है तब तक ज्ञानमें यह कल्पना है। मोहके अभावसे यह सर्व कल्पना विलीन हो जाती है-यह असगत नहीं। जब तक प्राणीके मोह है तब तक ही यह कल्पना है जो ये मेरी माता है और मै इसका पुत्र हूँ और ये मेरी भार्या है मैं इसका पति हूँ। मोहके अभावमे यह सब व्यवहार विलीन हो जाते हैं—जब यह आत्मा मोहके फन्देमे रहता है तब नाना कल्पनाओंकी पुष्टि करता है। किसीको हेय और किसीको उपादेय मानकर अपनी प्रवृत्ति बनाकर इतस्तत भ्रमण करता है। मोहके अभावमें आपसे आप शान्त हो जाता है। विशेष क्या कहूँ, इसका मर्म वे ही जाने जो निर्मोही हैं अथवा वे ही क्या जानें, उन्हे विकल्प ही नहीं।

मानव धर्म

१. मानवता वह विशेष गुण है जिसके बिना मानव मानव नहीं कहला सकता। मानवता उस व्यवहार का नाम है जिससे दूसरों को दुख न पहुँचे, उनका अहित न हो, एक दूसरे को देख कर क्रोध की भावना जागृत न हो। सक्षेप में सहृदयता-पूर्ण शिष्ट और मिष्ट व्यवहार का नाम मानवता है।

२. मनुष्य वही है जो आत्मोद्धार मे प्रयत्नशील हो।

३ मनुष्यता वही आदरणीय होती है जिसमें शान्तिमार्ग की अवहेलना न हो।

४ मनुष्य का सबसे बड़ा गुण सदाचारता और विश्वासपात्रता है।

५ मनुष्य वही है जो अपनी प्रवृत्ति को निर्मल करता है।

६ प्रत्येक वस्तु सदुपयोग से ही लाभदायक होती है। यदि मनुष्य पर्याय का सदुपयोग किया जावे तो देवों को भी वह सुख नहीं जो मनुष्य प्राप्त कर सकता है।

७. आत्मगौरव इसी मे है कि विषयों की तृष्णा से बचा जाये, मानवता का मूल्य पहिचाना जाए।

८. वह मनुष्य मनुष्य नहीं जो नीरोग होने पर भी आत्म-कल्याण से विमुख रहे।

९. चञ्चलता मानवता का दूषण है।

१०. मनुष्यजन्म प्राप्त करना सहज नहीं यदि इसकी सार्थकता चाहते हो तो अपने दैनिक कार्यों मे पूजा और स्वा-

ध्याय को महत्त्व अवश्य दो, परस्पर तत्व-चर्चा करो, कलह छोड़ो और सहनशील बनो।

११. मानव-पर्याय की सार्थकता इसी मे है कि आत्मा निष्कपट रहे।

१२ ससार में वे ही मनुष्य-जन्म को सफल बनाने की योग्यता के पात्र हैं, जो असारता में से सार वस्तु के पृथक करने मे प्रयत्नशील हैं।

१३ जिसने इस अमूल्य मानवजीवन से स्वपर शान्ति का लाभ न लिया उसका जन्म अर्कतूल के सदृश किस काम का?

१४ मनुष्य वही है जो अपनी आत्मा को संसार दुःख से मुक्त करने की चेष्टा करे। ससार के दुःखहरण की इच्छा यदि अपने लक्ष्य को दृष्टि मे रखकर नही हुई, तब वह मानव महापुरुषों की गणना में नहीं आता।

१५ मनुष्य वही है जो अपने वचनों का पालन करे।

१६. सबसे ममत्व त्याग कर अपना भविष्य निर्मल करो।

१७. ससार स्नेहमय है। इस स्नेह पर जिसने विजय पाली वही मनुष्य है।

१८. मनुष्य जन्म मे ही आत्मज्ञान होता है, सो नहीं, चारों ही गति आत्मज्ञान में कारण है परन्तु संयम का पात्र यही मनुष्यजन्म है, अतः इसका लाभ तभी है जब इन परपदार्थों से ममता छोड़ी जावे।

१९. मनुष्य को यह उचित है कि वह अपना लक्ष्य स्थिर कर उसी के अनुकूल प्रवृत्ति करे। मेरी सम्मति से लक्ष्य वह होना चाहिये जिससे पर को पीड़ा न पहुचे।

२०. मानव जाति सबसे उत्तम है, अत उसका दुरुपयोग कर उसे संसार का कण्टक मत बनाओ। इतर जाति को कष्ट देकर मानव जाति को दानव कहलानेका अवसर मत दो।

२१ मनुष्यायु महान पुण्य का फल है। संयम का साधन इसी पर्याय मे होता है। संयम निवृत्ति रूप है, और निवृत्ति का मुख्य साधन यही मानव शरीर है।

२२ संसार की अनन्तानन्त जीव राशिमे मनुष्य सख्या बहुत थोडी है। किन्तु यह अल्प होकर भी सभी जीव राशियों मे प्रधान है। क्योंकि मनुष्य पर्याय से ही जीव निज शक्ति का विकास कर ससार परम्परा को, अनादि कालीन मार्मिक दु:ख सन्तति को समूल नष्ट कर अनन्त सुखों का आधार परमपद प्राप्त करता है।

२३ मनुष्य वही है जो पर की झंझटों से अपने को सुरक्षित रखता है।

२४ मनुष्य वही प्रशस्त है जो दृढ़ाध्यवसायी हो।

२५ मनुष्य वही है जिसमें मनुष्यता का व्यवहार है। मनुष्यता वही है जिसके होने पर स्वपरभेद-विज्ञान हो जावे। स्वपर भेद विज्ञान वही है जिसके सद्भाव में आत्मा सुमार्गगामी रहता है। सुमार्ग वही है जिससे आत्मपरणति निर्मल रहती है और आत्मनिर्मलता वही है जिससे मानव मानवता का पुजारी कहलाता है।

२६ संयम का उदय इसी मानव पर्याय मे होता है अतः ससार नाश भी इसी पर्याय में होता है। क्योंकि संयमगुण आत्मा को संसार के कारणभूत विषयों से निवृत्त करता है।

कर्त्तव्य

१, मन में जितने विकल्प पैदा होते हैं उनमे से यदि सहस्रांश भी कार्य रूप में परिणत कर लिए जाय तो समझो कर्त्तव्यशीलता के सम्मुख हो गये।

२, जो कर्त्तव्यपरायण होते हैं वे व्यर्थ विकल्प नहीं करते।

३, यदि कर्त्तव्य की गाड़ी लाइन पर आ गई तो समझो अभीष्ट नगर पास है।

४, स्वय सानन्द रहो, दूसरों को भी कष्ट मत पहुँचाओ, जीवन को सार्थक बनाओ यही मानव जीवन का कर्त्तव्य है।

५, यह जीव आज तक निमित्त कारणों की प्रधानता से ही आत्म तत्त्व के स्वाद से वञ्चित रहा। अत. स्व की ओर ही दृष्टि रखकर श्रेयोमार्ग को ओर जाने को चेष्टा करना मुख्य कर्त्तव्य है।

६, महर्षियों या आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट पथ का अनुसरण कर और अपनी मनोवृत्ति को स्थिर कर स्वार्थ या आत्मा की सिद्धि करना मनुष्यों का कर्त्तव्य होना चाहिये।

सदाचार

१, अनुभवी वक्ताओं के भाषण, तथा सम्पूर्ण शास्त्रों का मूल सिद्धान्त एकमात्र सदाचारपूर्वक रहना सिखाता है।

२, सदाचार के बिना सुख पानेका यत्न करना आकाशके पुष्पावचयन के सदृश है।

३, जिस तरह मकान पक्का बनाने के लिये नींव का पक्का होना आवश्यक है, उसी तरह उज्वल भविष्य निर्माणके लिये (आदर्श जीवन के लिये) बालजीवन के सुसंस्कार सदाचारादि का सुदृढ़ होना आवश्यक है।

४, सभ्यता और असभ्यता विद्या से नहीं जानी जाती। चाहे संस्कृत भाषा का विद्वान् हो, चाहे हिन्दी, अंग्रेजी या और किसी भाषा का विद्वान् हो, जो सदाचारी है वह सभ्य है, जो असदाचाचारी है वह असभ्य है। प्रत्युत बिना पढ़े लिखे भी जो सदाचारी हैं वे सभ्य हैं। और बुद्धिमान भी यदि सदाचारी नहीं तो असभ्य हैं।

५, सदाचार ही जीवन है। इसकी निरन्तर रक्षा करने का प्रयत्न करो।

शान्ति

१. शान्ति का मूल कारण अशान्ति ही है। जब तक अशान्ति का परिचय हम को नहीं तभी तक हम इस दुःखमय संसार में भ्रमण कर रहे हैं। यदि आपको अशान्ति का अनुभव होने लगा तब समझिये कि आपका संसार तट निकट ही है।

२ आभ्यन्तर शान्ति के लिये कषाय कृश करने की आवश्यकता है, उसी ओर हमारा लक्ष्य होना चाहिये।

३. शान्ति का स्थायी स्थान निर्मोही आत्मा है।

४ संसार में वही आत्मा शान्तिका लाभ ले सकता है जिसने पर के द्वारा सुख दुःख होने की कल्पना का त्याग दिया है।

५ अन्तरङ्ग शान्ति के आस्वाद मे मूर्च्छा की न्यूनता ही प्रधान कारण है। और वह प्राय. उन्हीं जीवों के होती है जिनके स्वपरभेद ज्ञान हो गया और जो निरन्तर पर्याय तथा पर्याय सम्बन्धी वस्तुजात में उदासीन रहते है।

६. मिसरी का मधुर स्वाद केवल देखने से नहीं आ सकता, आत्मगत शान्ति का स्वाद वचन द्वारा नहीं आ सकता।

७. शान्ति का मार्ग आकुलता के अभाव में है, वह निज मे है, निजी है, निजाधीन है, परन्तु हम ऐसे पराधीन हो गये हैं कि उसको लौकिक पदार्थों मे देखते है, उसकी उपासना मे आयु

पूर्ण कर रहे हैं। शान्ति प्राप्त करने के लिये स्वात्मसम्बन्धी कलुषित भावों को दूर करो, यही अमोघ उपाय है।

८. शान्ति का आस्वाद उन्हीं की आत्मा में आता है जो पर पदार्थ से विरक्त हैं।

९. शान्ति का मूल मन्त्र मूर्छा की निवृत्ति है। जितनी निवृत्ति होगी अनायास उतनी ही शान्ति मिलेगी शान्ति के बाधक कारण हमारे ही कलुषित भाव हैं, ससार के पदार्थ उनके बाधक नहीं। तथा उनके त्याग देने से भी यदि अन्तरंग मूर्छा की हीनता न हो तब शान्ति का लाभ नहीं हो सकता अतः शान्ति के लिये निरन्तर अपनी कलुषता का अभाव करने मे ही सचेष्ट रहना श्रेयस्कर है।

१० शान्ति का मूल कारण समता है।

११ वास्तव में शान्ति वह है जो प्रतिपक्षी कर्म के अभाव में होती है। और वही नित्य है।

१२ प्रतिपक्षी कषाय के अभाव मे जो शान्ति होती है वह प्रत्येक समय हर एक अवस्था में विद्यमान रहती है। यही कारण है कि असयमी के ध्यानावस्था में भी शान्ति नहीं होती जो कि संयमी के भोजनादि के समय भी रहती है।

१३ जितना बाह्य परिग्रह घटता है, आत्मा में उतनी ही शान्ति आती है।

१४ शान्ति का उपाय अन्यत्र नहीं। अन्यत्र खोजना ही अशान्ति का उत्पादक और शान्ति के नाश का कारण है।

१५ "आत्मा को शान्ति का उपाय मिले" इसके लिये हमें यत्न करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि आत्मा शान्तिमय

है, अत: हमारी जो श्रद्धा है कि हमारा जीवन दु:खमय है, कण्टकाकीर्ण है उसी को परिवर्तित करने की आवश्यकता है।

१६ परके उपदेश से आत्म-शान्ति नहीं मिलती परउपकार भी आत्म-शान्ति का उपाय नहीं। उसका मूल तो कायरता का त्याग करना, उत्साहपूर्वक मार्ग में लगना और सलग्नता पूर्वक यत्न करना है।

१७ अविरत अवस्था में वीतराग भावों की शान्ति को अनुभव करने का प्रयास शशश्रृङ्ग के तुल्य है।

१८ शान्ति कोई मूर्त्तिमान् पदार्थ नहीं, वह तो एक निराकुल अवस्था रूप परिणाम है यदि हमारी इस अवस्था में शरीर से भिन्न आत्मप्रतीति हो गई तो कोई थोडी वस्तु नहीं। जब कि अग्नि की छोटी सी भी चिनगारी सघन जगल को जला सकती है तो आश्चर्य ही क्या यदि शान्ति का एक अंश भी भयानक भव वन को एक क्षण में भस्मसात् कर दे।

१६. ससार में जो इच्छा को हटा देगा वही शान्ति का अधिकारी होगा।

२०. जब तक अन्तरग परिग्रह न हटेगा तब तक बाह्य वस्तुओं के समागम में हमारी सुख दु:ख की कल्पना बनी रहेगी जिस दिन वह हटेगा, कल्पना नष्ट हो जायगी और बिना प्रयास के शान्ति का उदय हो जायगा।

२१. पद के अनुसार शान्ति आती है। गृहस्थावस्था में वीतराग अवस्था की शाति की श्रद्धा तो हो सकती है परन्तु उसका स्वाद नहीं आ सकता। भोजन बनाने से उसका स्वाद आजावे यह सम्भव नहीं, रसास्वाद तो चखने से ही आवेगा।

२२. शुभाशुभ उदय मे समभाव रखना शान्ति का साधन है।

२३. सद्भावना में ही शान्ति और सुख निहित है।

२४. पुस्तकादि को पढ़ने से क्या होता है, होने की प्रकृति तो आभ्यन्तर में है। शान्ति का मार्ग मूर्छा के अभाव मे है सद्भाव में नहीं।

२५. जहां शान्ति है वहा मूर्छा नहीं और जहा मूर्छा है वहां शान्ति नहीं।

२६. शान्ति अपनी परणतिविशेष है। उसके बाधक कारण जो हमने मान रखे है वे नहीं हैं किन्तु हम स्वयं ही अपनी विरुद्ध मान्यता द्वारा बाधक कारण बन रहे है। उस विरुद्ध भाव को मिटा दे तो स्वयमेव शान्ति का उदय हो जावेगा।

२७. समाज का कार्य करने में शान्ति का लाभ होना कठिन है। शान्ति तो एकान्तवास में है। आवश्यकता इस बात की है कि उपयोग अन्यत्र न जावे।

२८. जो स्वयं अशान्त है वह अन्य को क्या शान्ति पहुँचायेगा।

२९. ससार मे यदि शान्ति की अभिलाषा है तब इससे तटस्थ रहना चाहिये। गृहस्थावस्था में परिग्रह बिना शान्ति नहीं मिलती और आगम में परिग्रह को अशान्ति का कारण कहा है, यह विरोध कैसे मिटे ? तब आगम ही इसको कहता है कि न्याय पूर्वक परिग्रह का अर्जन दुःखयायी नहीं तथा उसमें आसक्ति का न होना ही शान्ति का कारण है। जहा तक बने द्रव्य का सदुपोग करो, विषयों में रत न होओ।

३० धार्मिक चर्चा में समय व्यतीत करना शान्ति का परम साधक है।

३१. अशान्ति का उदय जहा होता है और जिससे होता है उन दोनों की ओर दृष्टि दीजिए और अपने आत्मस्वरूप को पहिचानिये, सहज ही झंझट दूर करने की कुञ्जी मिल जायगी।

३२. जिस दिन तात्त्विक ज्ञान का उदय होगा; शान्ति का राज्य मिल जायगा। केवल पदार्थों के छोड़ने से शान्ति का मिलना अति कठिन है।

३३ भोजन की कथा से क्षुधानिवृत्ति का उपाय ज्ञात होगा, क्षुधा निवृत्ति नहीं। उसी प्रकार शान्ति के बाधक कारणों को हेय समझने मे शान्ति का मार्ग दिखेगा, शान्ति नहीं मिल सकती। शान्ति तो तभी मिलेगी जब उन बाधक कारणों को हटाया जायगा।।

३४ आत्मा स्वभाव मे अशान्त नहीं, कर्म कलक के समागम से अशान्त हो रहा है। कर्म कलङ्क के अभाव में स्वयं शान्त हो जाता है।

३५ आत्मा एक ऐसा पदार्थ है जो पर के सम्बन्ध से 'ससारी' और पर के सम्बन्ध के बिना मुक्त ऐसे दो प्रकार के भाव को प्राप्त हो जाता है। पर का सम्बन्ध करनेवाले और न करनेवाले हम ही है। अनादि काल से विभाव शक्ति के विचित्र परिणमन से हम नाना पर्यायों में भ्रमण करते हुए स्वयं नाना प्रकार के दु:खों के पात्र हो रहे हैं। जिस समय हम ज्ञायकभाव में होनेवाले विकृत भाव की हेयता को जानकर उसे पृथक् करने का भाव करेंगे उसी क्षण शान्ति के पथ पर पहुच जावेंगे।

३६ पदार्थ को जानने का यही तो फल है कि आत्मा को शान्ति मिले। परन्तु वह शान्ति ज्ञान से नहीं मिलती, न इस प्रवृत्ति रूप व्रतादिकों से ही उसका आविर्भाव होता है, और न

संकल्प कल्पतरु से कुछ आने जाने का है। सच्ची शान्ति प्राप्त करनेके लिये रागादिक भावोंको हटाना पड़ेगा क्योंकि शान्ति का वैभव रागादिक भावोंके अभावमें ही निहित है।

३७ केवल वचनोंकी चतुरतासे शान्तिलाभ चाहना मिश्री की कथा से मीठा स्वाद लेने जैसा प्रयास है।

३८. अनेक महानुभावों ने बडे बडे तीर्थाटन किये, पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा कराई, मन्दिर निर्माण किये, षोडशकारण, दशलक्षण और अष्टाह्निका व्रत किये, बडी बड़ी आयोजना करके उन व्रतों के उद्यापन किये, परन्तु इन्हे शान्ति की गन्ध भी न मिली। अनेक महाशयोंने महान् महान् आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन किया, प्रतिवादी मत्त मतङ्गजों का मान मर्दन किया, अपने पाण्डित्य के प्रताप से महापण्डितों की श्रेणीमें नाम लिखाया, तो भी उनकी आत्मा में शान्तिसमुद्र की शीतलता ने स्पर्श नहीं किया। उसी प्रकार अनेक गृहस्थ गृहवास त्यागकर दिगम्बरी दीक्षा के पात्र हुये तथा अध्ययन अध्यापन आचरणादि समस्त क्रिया कर तपस्वियों में श्रेष्ठ कहलाये जिनकी कायसौम्यता और वचन पटुता से अनेक महानुभाव ससार से मुक्त हो गये परन्तु उनके ऊपर शान्तिप्रिया मुक्तिलक्ष्मी का कटाक्षपात भी न हुआ। इससे सिद्ध है कि शान्ति का मार्ग न वचन में है न काय में है और न मनोव्यापार मे है। वास्तव मे वह अपूर्व रस केवल आत्म-द्रव्य की सत्य भावना के उत्कर्ष ही से मिलता है।

३९ सर्व सङ्कल्प को छोड़कर एक स्वात्मोन्नति करो, वही शान्ति की जड है।

४० ध्यान करते समय जितनी शान्ति रहेगी, उतनी ही जल्दी संसार का नाश होगा।

४१. संसार में शान्ति के अर्थ अनेक उपाय करो, परन्तु जब तक अज्ञानता है, शान्ति नहीं मिल सकती।

४२. संसार में जितने कार्य देखे जाते हैं, सब कषाय भाव के हैं। इसके अभाव का जो कार्य है वही हमारा निज रूप है, शान्तिकारक है।

४३. शान्ति से ही आनन्द मिलेगा। अशान्ति का कारण मूर्च्छा है और मूर्च्छा का कारण बाह्य परिग्रह है। जब तक इन बाह्य कारणों से न बचोगे, शान्ति का मार्ग कठिन है।

४४. शान्ति के कारण सर्वत्र हैं, परन्तु मोही जीव कहीं भी रहे उनके लाभ से वञ्चित रहता है।

४५. शान्ति का लाभ अशान्तिके आभ्यन्तर बीज को नाश करने से होता है।

४६ संसार मे कहीं शान्ति न हो सो बात नहीं। शान्ति का मार्ग अन्यथा मानने से ही ससार में अशान्ति फैलती है। यथार्थ प्रत्यय के बिना साधु भी अशान्त रहता है।

४७. ममता के त्याग बिना समता नहीं, और समता के बिना तामस भाव का अभाव नहीं। जब तक आत्मा में कलुषता का कारण यह भाव है तब तक शान्ति मिलना असम्भव है।

कल्याण का मार्ग

१. जिन कार्यों के करने से संक्लेश होता है उन्हें छोड़ने का प्रयास करो, यही कल्याण का मार्ग है।

२. कल्याण का उदय केवल लिखने, पढ़ने या घर छोड़ने से नहीं होगा अपितु स्वाध्याय करने और विषयों से विरक्त रहने से होगा।

३. कल्याण के पथ पर बाह्य कारणों की आवश्यकता नहीं। कालादिक जो उदासीन निमित्त हैं वे तो शुद्ध तथा अशुद्ध दोनों की प्राप्ति में समान रूप से कारण हैं, चरम शरीराधिक सब उपचार से कारण हैं। अतः मुख्यतया एकत्व परिणत आत्मा ही संसार और मोक्ष का प्रधान कारण है।

४ श्रद्धापूर्वक पर्याय के अनुकूल यथाशक्ति निवृत्ति मार्ग पर चलना ही कल्याण का मार्ग है।

५ कल्याण का मार्ग बाह्य त्याग से परे है और वह आत्मानुभवगम्य है।

६. कल्याण का पथ बातों से नहीं मिलता; कषायों के सम्यक् निग्रह से ही मिलेगा।

७. यदि हमको स्वतन्त्रता रुचने लगी तब समझना चाहिये अब हमारा कल्याण का मार्ग दूर नहीं।

८. कल्याण पथ का पथिक वही जीव हो सकता है जिसे आत्मज्ञान हो गया है।

९. इस भव में वही जीव आत्मकल्याण करने का अधिकारी है जो पराधीनता का त्याग करेगा, अन्तरङ्ग से अपने ही में अपनी विभूति को देखेगा।

१० निरन्तर शुद्ध पदार्थ के चिन्तवन में अपना काल बिताओ, यही कल्याण का अनुपम मार्ग है।

११. स्वरूप की स्थिरता ही कल्याण की खानि है।

१२. आडम्बरशून्य धर्म ही कल्याण का मार्ग है।

१३. कल्याण की जननी अन्य द्रव्य की उपासना नहीं केवल स्वात्मा की उपासना ही उसकी जन्म भूमि है।

१४. कहीं (तीर्थयात्रादि करने) जाओ परन्तु कल्याण तो भीतरी मूर्छा की ग्रन्थि के भेदन से ही होगा और वह स्वयं भेदन करनी पड़ेगी

१५ तत्त्वज्ञानपूर्वक रागद्वेष की निवृत्ति ही आत्मकल्याण का सहज साधन है

१६. अपने परिणामों के सुधार से ही सबका भला होगा।

१७ परपदार्थ व्यग्रता का कारण नहीं, हमारी दृष्टि ही व्यग्रता का कारण है, उसे हटाओ। उसके हटाने से हर स्थान तीर्थक्षेत्र है, विश्व शिखरजी है और आत्मा में मोक्ष है।

१८ संसार के सभी सम्प्रदायानुयायी संसार यातना का अन्त करने के लिये नाना युक्तियों, आगम गुरुपरम्परा तथा स्वानुभवों द्वारा उपाय दिखाने का प्रयत्न करते हैं। जो हो हम और आप भी चैतन्यस्वरूप आत्मा हैं, कुछ विचार से काम

लेवें तब अन्त में यही निर्णय सुखकर प्रतीत होगा कि बन्धन से छूटने का मार्ग हम में ही है परपदार्थों से केवल निजत्व हटाना है।

१६. इच्छामात्र आकुलता की जननी है, अत. वह परमानन्द का दर्शन नहीं करा सकती।

२० कल्याण का मूल कारण मोहपरिणामों की सन्तति का अभाव है। अत. जहा तक बने इन रागादिक परिणामों के जाल से अपनी आत्मा को सुरक्षित रक्खो।

२१. जगत की ओर जो दृष्टि है वह आत्मा की ओर कर दो, यही श्रेयोमार्ग है।

२२. जग से ३६ छत्तीस (सर्वथा पराङ्मुख) और आत्मा से ६३ (सर्वथा अनुकूल) रहो, यही कल्याणकारक है।

२३. मन वचन और काय के साथ जो कषाय की वृत्ति है वही अनर्थ की जड़ है।

२४. सत्पथ के अनुकूल श्रद्धा ही मोक्षमार्ग की आदि जननी है।

२५. कल्याण की प्राप्ति आतुरता से नहीं निराकुलता से होती है।

२६ कल्याण का मार्ग अपने आपको छोड़ अन्यत्र नहीं। जब तक अन्यथा देखने की हमारी प्रकृति रहेगी, तब तक कल्याण का मार्ग मिलना अति दुर्लभ है।

२७. राग द्वेष के कारणों से बचना कल्याण का सच्चा साधन है।

२८. कल्याण का पथ निर्मल अभिप्राय है। इस आत्मा

ने अनादि काल से अपनी सेवा नहीं की केवल पर पदार्थों के संग्रह में ही अपने प्रिय जीवन को भुला दिया। भगवान अर-हन्त का उपदेश है "यदि अपना कल्याण चाहते हो तो पर पदार्थों से आत्मीयता छोड़ो"

२६. अभिप्राय यदि निर्मल है तो बाह्य पदार्थ कल्याण में बाधक और साधक कुछ भी नहीं हैं। साधक और बाधक तो अपनी ही परिणति है।

३०. कल्याण का मार्ग सम्मति में है अन्यथा मानव धर्म का दुरुपयोग है।

३१. कल्याण के अर्थ संसार की प्रवृत्ति को लक्ष्य न बना कर अपनी मलिनता को हटाने का प्रयत्न करना चाहिये।

३२. अर्जित कर्मों को समता भाव से भोग लेना ही कल्याण के उदय में सहायक है।

३३. निमित्त कारणों के ही ऊपर अपने कल्याण और अकल्याण के मार्ग का निर्माण करना अपनी दृष्टि को हीन करना है। बाहर की ओर देखने से कुछ न होगा आत्मपरिणति को देखो, उसे विकृति से संरक्षित रखो तभी कल्याण के अधिकारी हो सकोगे।

३४. कल्याण का मार्ग आत्मनिर्मलता में है, बाह्याडम्बर में नहीं। मूर्ति बनाने के योग्य शिला का अस्तित्व सङ्गमर्मर की खानि में होता है मारवाड़ के बालुकापुञ्ज में नहीं।

३५. पर की रक्षा करो परन्तु उस में अपने आपको न भूलो।

३६. वही जीव कल्याण का पात्र होगा जो बुरे चिन्तन से दूर रहेगा।

३७ यदि कल्याण की इच्छा है तो प्रमाद को त्याग कर आत्मस्वरूप का मनन करो।

३८ कल्याण का मार्ग, चाहे वन में जाओ, चाहे घर में रहो, आप ही में निहित है। पर के जानने से कुछ भी कल्याण नहीं होता, अकल्याण का मूल कारण तो मूर्छा है। उसको त्यागने स सभी उपद्रव दूर हो जावेगे। वह जब तक अपना स्थान आत्मा में बनाये है, आत्मा दु.खी हो रहा है। दु:ख बाह्य पदार्थ से नहीं होता अपने अनात्मीय भावों से होता है।

३९ कल्याणार्थियों को चाहिये कि जो भी कार्य करें उसमें अहंबुद्धि और ममबुद्धि का त्याग करें अन्यथा संसार-बन्धन छूटना कठिन है।

४०. अन्यान्य का धन और इन्द्रियविषय ये दो सुमार्ग के रोड़े हैं।

४१. कल्याण का पथ निरीहवृत्ति है।

४२. ससार मोहरूप है, इसमें ममता न करो। कुटुम्ब की रक्षा करो परन्तु उसमें आसक्त न होओ। जल में कमल की तरह भिन्न रहो, यही गृहस्थी को श्रेयस्कर है।

४३. कल्याण के अर्थ भीषण अटवी में जाने की आवश्यकता नहीं, मूर्छा का अभाव होना चाहिये।

४४ मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि जो जीव आत्मकल्याण को चाहते हैं वे अवश्य उसके पात्र होते हैं।

४५. अनादि मोह के वशीभूत होकर हमने निज को चीना ही नहीं, तब कल्याण किसका? इस पर्याय में इतनी योग्यता

स्वाध्याय

१ स्वाध्याय संसार से पार करने को नौका के समान है, कषाय अटवी को दग्ध करने के लिये दावानल है, स्वानुभव समुद्र की वृद्धि के लिये पूर्णिमा का चन्द्र है, भव्य कमल विकसित करने के लिये भानु है, और पाप उलूक को छिपाने के लिये प्रचण्ड मार्तण्ड है।

२. स्वाध्याय ही परम तप है, कषाय निग्रह का मूल कारण है, ध्यान का मुख्य अङ्ग है, शुक्ल ध्यान का हेतु है, भेद ज्ञान के लिये रामबाण है, विषयों में अरुचि कराने के लिये मलेरिया सदृश है, आत्मगुणोंका संग्रह करने के लिये राजा तुल्य है।

३. सत्समागम से भी स्वाध्याय विशेष हितकर है। सत्स-मागम आस्रव का कारण है जबकि स्वाध्याय स्वात्माभिमुख होनेका प्रथम उपाय है। सत्समागम में प्रकृति विरुद्ध भी मनुष्य मिल जाते हैं परन्तु स्वाध्याय मे इसकी भी सम्भावना नहीं, अतः स्वाध्याय की समानता रखनेवाला अन्य कोई नहीं।

४. स्वाध्याय की अवहेलना करने से ही हम दैन्यवृत्ति के पात्र और तिरस्कार के भाजन हुए हैं।

५. कल्याण के मार्ग में स्वाध्याय प्रधान सहकारी कारण है

६ स्वाध्याय से उत्कृष्ट और कोई तप नहीं।

७ स्वाध्याय आत्म-शान्ति के लिये है, केवल ज्ञानार्जन के लिये नहीं। ज्ञानार्जन के लिये तो विद्याध्ययन है। स्वाध्याय तप है। इससे संवर और निर्जरा होती है।

८. स्वाध्याय का फल निर्जरा है, क्योंकि यह अन्तरङ्ग तप है। जिनका उपयोग स्वाध्याय में लगता है वे नियम से सम्यग्दृष्टि हैं।

९ आगमाभ्यास ही मोक्षमार्ग में प्रधान कारण है। वह होकर भी यदि अन्तरात्मा से विपरीताभिप्राय न गया तब वह आगमाभ्यास अन्धे के लिये दीपक की तरह व्यर्थ है।

१० शास्त्राध्ययन मे उपयुक्त आत्मा कर्म-बन्धन से शीघ्र मुक्त होता है।

११. सम्यग्ज्ञान का उदय उसी आत्मा के होता है जिसका आत्मा मिथ्यात्व कलङ्क कालिमा से निर्मुक्त हो जाता है। वह कालिमा उसी को दूर होती है जो अपने को तत्त्व भावनामय बनाने के लिये सदा स्वाध्याय करता है।

१२. शारीरिक व्याधियों की चिकित्सा डाक्टर और वैद्य कर सकते हैं लेकिन सांसारिक व्याधियों की रामबाण चिकित्सा केवल श्री वीतराग भगवान की विशुद्ध वाणी ही कर सकती है।

१३ स्वाध्याय का मम जानकर आकुलता नहीं होनी चाहिए। आकुलता मोक्षमार्ग में साधक नहीं, साधक तो निराकुलता हैं।

१४ स्वाध्याय परम तप है।

१५. मनुष्य को हितकारिणी शिक्षा आगम से मिल सकती है या उसके ज्ञाता किसी स्वाध्यायप्रेमी के सम्पर्क से मिल सकती है।

१६. तात्त्विक विचार की यही महिमा है कि यथार्थ मार्ग पर चले।

१७. एक वस्तु का दूसरी वस्तु से तादात्म्य नहीं। पदार्थ की कथा छोड़ो, एक गुण का अन्य गुण से और एक पर्याय का अन्य पर्याय से कोई सम्बन्ध नहीं। इतना जानते हुये भी पर के विभावों द्वारा की गई स्तुति निन्दा पर हर्ष विषाद करना सिद्धान्त पर अविश्वास करने के तुल्य है।

१८. जो सिद्धान्तवेत्ता हैं वे अपथ पर नहीं जाते। सिद्धान्तवेत्ता वही कहलाते हैं जिन्हें स्वपर ज्ञान है। तथा वे ही सच्चे वीर और आत्मसेवी हैं।

१९. शास्त्रज्ञान और बात है और भेदज्ञान और बात है। त्याग भेदज्ञान से भी भिन्न वस्तु है। उसके बिना पारमार्थिक लाभ होना कठिन है।

२०. कल्याण के इच्छुक हो तो एक घंटा नियम से स्वाध्याय में लगाओ।

२१. काल के अनुसार भले ही सब कारण विरुद्ध मिले फिर भी स्वाध्यायप्रेमी तत्त्वज्ञानी के परिणामों में सदा शान्ति रहती है। क्योंकि आत्मा स्वभाव से शान्त है, वह केवल कर्म कलङ्क द्वारा अशान्त हो जाता है। जिस तत्त्वज्ञानी जीव के अनन्त संसार का कारण कर्म शान्त हो गया है वह संसार के वास्तविक स्वरूप को जानकर न तो किसी का कर्ता बनता है और न भोक्ता ही होता है, निरन्तर ज्ञानचेतना का जो फल है उसका

पात्र रहता है। उपयोग उसका कहीं रहे परन्तु वासना इतनी निर्मल है कि अनन्त संसार का उच्छेद उसके हो ही जाता है। निरन्तर अपने को निर्मल रखिये, स्वाध्याय कीजिये, यही ससारबन्धन से मुक्ति का कारण है।

२२. यदि वर्तमान मे आप वीतरागता की अविनाभाविनी शान्ति चाहें तब असम्भव है, क्यों कि इस काल मे परम वीतरागताकी प्राप्ति होना दुर्लभ है। अत. जहां तक बने स्वाध्याय व तत्वचर्चा कीजिए।

२३. उपयोग की स्थिरता में स्वाध्याय मुख्य हेतु है। इसी से इसका अन्तरङ्ग तप में समावेश किया गया है। तथा यह सवर और निर्जरा का भी कारण है। श्रेणी में अल्प से अल्प आठ प्रवचन मातृका का ज्ञान अवश्य होता है। अवधि और मन पर्यय मे भी श्रुतज्ञान महोपकारी है। यथार्थ पदार्थ का ज्ञान इसके ही बल से होता है। अतः सब उपायों से इसकी वृद्धि करना यही मोक्षमार्ग का प्रथम सोपान है।

२४. जिस तरह व्यापार का प्रयोजन आर्थिक लाभ है उसी तरह स्वाध्याय का प्रयोजन शान्तिलाभ है।

२५. अन्तरङ्ग के परिणामों पर दृष्टिपात करने से आत्मा की विभाव परिणति का पता चलता है। आत्मा परपदार्थों की लिप्सा से निरन्तर दुखी हो रहा है, आना जाना कुछ भी नहीं। केवल कल्पनाओं के जाल मे फंसा हुआ अपनी सुध में बेसुध हो रहा है। जाल भी अपना ही दोष है। एक आगम ही शरण है यही आगम पंचपरमेष्ठी का स्मरण कराके विभाव से आत्मा की रक्षा करनेवाला है।

२६. स्वाध्याय तप के अवसर में, जो प्रतिदिन का कार्य है, यह ध्यान नहीं रहता कि यह कार्य उच्चतम है।

२७ स्वाध्याय करते समय जितनी भी निर्मलता हो सके करनी चाहिये।

२८. स्वाध्याय से बढ़कर अन्य तप नहीं। यह तप उन्हीं के हो सकता है जिनके कषायों का क्षयोपशम हो गया है। क्योंकि बन्धन का कारण कषाय है। कषायका क्षयोपशम हुए बिना स्वाध्याय नहीं हो सकता, केवल ज्ञानार्जन हो सकता है।

२९. स्वाध्याय का फल रागादिकों का उपशम है। यदि तीव्रोदय से उपशम न भी हो तब मन्दता तो अवश्य हो जाती है। मन्दता भी न हो तब विवेक अवश्य हो जाती है। यदि विवेक भी न हो तब तो स्वाध्याय करनेवाले न जाने और कौन सा लाभ ले सकेंगे ? जो मनुष्य अपनी राग प्रवृत्ति को निरन्तर अवनत कर तात्त्विक सुधार करने का प्रयत्न करता है वही इस व्यवहार धर्म से लाभ उठा सकता है। जो केवल ऊपरी दृष्टि से शुभोपयोग में ही संतोष कर लेते है वे उस पारमार्थिक लाभ से वंचित रहते हैं।

३०. सानन्द स्वाध्याय कीजिये, परन्तु उसके फलस्वरूप रागादि मूर्छा की न्यूनता पर निरन्तर दृष्टि रखिये।

३१. आगम ज्ञान का इतना ही मुख्य फल है कि हमें वस्तुस्वरूप का परिचय हो जावे।

३२. शास्त्र ज्ञान का यही अभिप्राय है कि अपने को पर से भिन्न समझा जावे। जब मनुष्य नाना प्रयत्नों में उलझ जाता है तब वह लक्ष्य से दूर हो जाता है। वैसे तो उपाय अनेक हैं पर जिससे रागद्वेष की शृङ्खला टूट जावे और आत्मा केवल

ज्ञाता दृष्टा बना रहे, यह उपाय स्वाध्याय ही है। निरन्तर मूर्च्छा के बाह्य कारणों से अपने को रक्षित रखते हुए अपनी मनोभा-वना को पवित्र बनाने के लिए शास्त्र स्वाध्याय जैसे प्रमुख साधन को अवलम्बन बनाओ।

३३. शास्त्र स्वाध्याय से ज्ञान का विकास होता है और जिनके अभिप्राय विशुद्ध हैं उनके यथार्थ तत्त्वों का बोध होता है।

३४. इस काल में स्वाध्याय से ही कल्याण मार्ग की प्राप्ति सुलभ है।

३५. स्वाध्याय को तपमें ग्रहण किया है अत: स्वाध्याय केवल ज्ञान का ही उत्पादक नहीं किन्तु चारित्र का भी अङ्ग है।

ब्रह्मचर्य

१. ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ-"आत्मा मे रमण करना है।" परन्तु आत्मा मे आत्मा का रमण तभी हो सकता है जबकि चित्तवृत्ति विषय वासनाओं से निर्लिप्त हो, विषयाशा से रहित होकर एकाग्र हो। इस अवस्था का प्रधान साधक वीर्य का संरक्षण है अत वीर्यका संरक्षण ही ब्रह्मचर्य है।

२. आत्मशक्ति का नाम वीर्य है, इसे सत्व भी कहते हैं। जिस मनुष्य के शरीर में वीर्य शक्ति नहीं वह मनुष्य कहलाने योग्य नहीं बल्कि लोक मे उसे नपुंसक कहा जाता है।

३ आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार शरीर मे सप्त धातुएं होती हैं—१ रस २ रक्त, ३ मांस, ४ मेदा, ५ हड्डी, ६ मज्जा और ७ वीर्य। इनका उत्पत्तिक्रम रस से रक्त, रक्त से मास मास से मेदा, मेदा से हड्डी, हड्डी से मज्जा और मज्जासे वीर्य बनता है। इस उत्पत्ति क्रमसे स्पष्ट है कि छटवीं मज्जा धातु से बनने वाली सातवीं शुद्ध धातु वीर्य है। अच्छा स्वस्थ मनुष्य जो आधा सेर भोजन प्रतिदिन अच्छी तरह हजम कर सकता है वही ८० दिन में ४० सेर याने एक मन अनाज खाने पर केवल एक तोला शुद्ध धातु वीर्य का सञ्चय कर सकता है! इस हिसाब से एक दिन का सञ्चय केवल १। सवा रत्ती से कुछ कम ही पड़ता है। इसीलिये यह कहा जाता है कि हमारे शरीर

में वीर्य शक्ति ही सर्व श्रेष्ठ शक्ति है, वही हमारे शरीर का राजा है। जिस तरह राजा के बिना राज्य में नाना प्रकार के अन्याय मार्गों का प्रसार होने से राज्य निरर्थक हो जाता है उसी तरह इस शरीर में इस वीर्य शक्ति के बिना शरीर निस्तेज हो जाता है, नाना प्रकार के रोगों का आराम गृह बन जाता है। अत इस अमूल्य शक्ति के सरक्षण की ओर जिनका ध्यान नहीं वे न तो लौकिक कार्य करने में समर्थ हो सकते हैं और न पारमार्थिक कार्य करने में समर्थ हो सकते हैं।

४ ब्रह्मचर्य संरक्षण के लिए न केवल विषय भोग का निरोध आवश्यक है अपि तु तद्विषयक वासनाओं और साधन सामग्री का निरोध भी आवश्यक है। १ अपने राग के विषय भूत स्त्री पुरुष का स्मरण करना, २ उनके गुणों की प्रशंसा करना, ३ साथ में खेलना, ४ विशेष अभिप्रायसे देखना, ५ लुक छिपकर एकान्त में वार्तालाप करना, ६ विषय सेवन का विचार और ७ तद्विषयक अध्यवसाय ब्रह्मचर्य के घातक होने से विषय सेवन के सदृश ही है। इसीलिये आचार्यों ने ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले को स्त्रियों के सम्पर्क से दूर रहने का आदेश दिया है। यहा तक कि स्त्री समागम को ही संसार-वृद्धि का मूल करण कहा है क्योंकि स्त्री-समागम होते ही पांचों इन्द्रियों के विषय स्वयमेव पुष्ट होने लगते हैं। प्रथम तो उसके रूप को निरंतर देखने की अभिलाषा बनी रहती है। वह निरंतर सुन्दर रूप वाली बनी रहे, इसके लिये अनेक प्रकार के उपटन, तेल आदि पदार्थों के संग्रह में व्यस्त रहता है। उसका शरीर पसेव आदि से दुर्गन्धित न हो जाय, अतः निरंतर चन्दन, तेल इत्र आदि बहुमूल्य वस्तुओं का संग्रह कर उस पुतली की सम्हाल में संलग्न रहता है। उसके केश निरंतर लंबायमान रहें अतः

उनके लिये नाना प्रकार के गुलाब, चमेली, केवड़ा आदि तेलों का संग्रह करता है तथा उसके सरस कोमल, मधुर शब्दों का श्रवण कर अपने को धन्य मानता है और उसके द्वारा संपन्न नाना प्रकार के रसास्वाद को लेता हुआ फूला नहीं समाता है। उसके कोमल अंगोंको स्पर्श कर आत्मीय ब्रह्मचर्य का और बाह्य में शरीर-सौंदर्य का कारण वीर्य का पात होते हुए भी अपने को धन्य मानता है। इस प्रकार स्त्रीसमागम से ये मोही पचेन्द्रियों के विषय में मकड़ों के जाल की तरह फंस जाते हैं। इसीलिये ब्रह्मचर्य को असिधारा व्रत, महान् धर्म और महान् तप कहा है।

५. धर्म साधन का प्रधान साधन स्वस्थ शरीर कहा गया है इसलिये ही नहीं अपितु जीवन के संरक्षण और उसके आदर्श निर्माण के लिये भी जो १ शान्ति, २ कान्ति, ३ स्मृति, ४ ज्ञान ५ निरोगिता जैसे गुण आवश्यक हैं उनकी प्राप्ति के लिये ब्रह्मचर्य का पालन नितान्तावश्यक है।

६ यह कहते हुए लज्जा आती है, हृदय दु:ख से द्रवीभूत हो जाता है कि जिस अद्भुत वीर्य शक्ति के द्वारा हमारे पूर्वजों ने लौकिक और पारमार्थिक कार्य कर संसार के संरक्षण का भार उठाया था आजकल उस अमूल्य शक्ति का बहुत ही निर्विचार के साथ ध्वंस किया जा रहा है। आजसे १००० वर्ष पहिले इसकी रक्षा का बहुत ही सुगम उपाय था-ब्रह्मचर्य को पालन करते हुए बालक गण गुरुकुलों में वास कर विद्योपार्जन करते थे। आज को तरह उन दिनों चमक दमक प्रधान विद्यालय न थे और न आज जैसा यह वातावरण ही था। उन्नति का जहां तक प्रश्न है प्रगतिशीलता साधक है परन्तु यह प्रगतिशीलता खटकने वाली है जिससे राग की वृद्धि और आत्माका

घात होता हो। माना कि आजकल के विद्यालयों में वैसे शिक्षक नहीं जिनके अवलोकन मात्रासे शान्ति की उद्भूति हो! छात्रों पर वह पुत्रप्रेम नहीं जिसके कारण छात्रों में गुरु आदेश पर मिटने की भावना हो। और न छात्रों में वह गुरुभक्ति है जिसके नाम पर विद्यार्थी असंभव को संभव कर दिखाते थे। इसका कारण यही था कि पहले के गुरु छात्रों को अपना पुत्र ही समझते थे अपने पुत्र के उज्वल भविष्य निर्माण के लिये जिन संस्कारों और जिस शिक्षा की आवश्यकता समझते थे वही अपने शिष्यों के लिये भी करते थे। परन्तु अब तो पासे उलटे ही पड़ने लगे हैं! अन्य बातोंको जाने दीजिये शिक्षा में भी पक्षपात होने लगा! गुरु जी अपने सुपुत्रों को अंग्रेजी पढाना हितकर समझते हैं तब (दूसरों के लड़कों) अपने शिष्यों को सस्कृत पढ़ाते हैं! भले ही संस्कृत आत्मकल्याण और उभय लोक में सुखकारी है परन्तु इस विषम वातावरण से उस आदर्श सस्कृत भाषा और उन अतीत के आदर्शों पर छात्रों की अश्रद्धा होती जाती है जिनसे वे अपने को योग्य बना सकते हैं। आवश्यक यह है कि गुरु शिष्य पुनः अपने कर्तव्यों का पालन करें जिससे प्रगति शील युग में उन आदर्शों की भी प्रगति हो विद्यालयों के विशाल प्राङ्गणों में ब्रह्मचारी बालक खेलते कूदते नजर आवें और गुरु वर्ग उनके जीवन निर्माता और सच्चे शुभचिन्तक बनें। *

७. ब्रह्मचर्य साधन के लिये व्यायाम द्वारा शरीर के प्रत्येक अङ्ग को पुष्ट और संगठित बनाना चाहिये। सादा भोजन और व्यायाम से शरीर ऐसा पुष्ट होता है कि वृद्धावस्था तक सुदृढ़ बना रहता है। जो भोजन हम करते हैं उसे जठराग्नि पचाती है फिर उसका धातु उत्पत्ति क्रमानुसार रसादि परम्परा से वीर्य बनता है। इस तरह वीर्य और जठराग्नि में परस्पर सम्बन्ध

है—एक दूसरे के सहायक हैं। इन्हीं के आधीन शरीर की रक्षा है, इनकी स्वस्थता में शरीर की स्वस्थता है। प्राचीन समय में इसी अखण्ड ब्रह्मचर्य के बल से मनुष्य बद्धवीर्य ऊर्ध्वरेता कहे जाते थे।

८. जिस शक्तिको छात्र वृन्द अहनिश अध्ययन कार्य में लाते हैं वह मेधा शक्ति भी इसी शक्ति के प्रसाद से बलवती रहती है, इसीके बल से अभ्यास अच्छा होता है, इसी के बल से स्मरण शक्ति अद्भुत बनी रहती है। स्वामी अकलङ्कदेव, स्वामी विद्यानन्दि, महाकवि तुलसीदास भक्त सूरदास और पण्डित प्रवर तोडरमल की जो विलक्षण प्रतिभा थी वह इसी शक्ति का वरदान था।

९. आजकल माता पिता का ध्यान सन्तान के सुसंस्कारों की रक्षा की ओर नहीं है। धनाढ्य से धनाढ्य भी व्यक्ति अपने बच्चों को जितना अन्य आभूषणों से सज्जित एवं अन्य वस्तुओं से सम्पन्न देखने की इच्छा रखते हैं उतना सदाचारादि जैसे गुणोंसे विभूषित और शील जैसी सम्पत्ति से सम्पन्न देखने की इच्छा नहीं रखते। प्रत्युत उसके विरुद्ध ही शिक्षा दिलाते हैं जिससे कि सुकुमार-मति बालक को सुसंगति की अपेक्षा कुसङ्गति का प्रश्रय मिलता है फलस्वरूप वे दुराचरण के जाल में फँस कर नाना प्रकार की कुत्सित चेष्टाओं द्वारा शरीर की संरक्षण शक्ति का ध्वंस कर देते हैं। दुराचार से हमारा तात्पर्य केवल असदाचरण से नहीं है किन्तु १- आत्मा को विकृत करने वाले नाटकों का देखना, २-कुत्सित गाने सुनना, ३ शृङ्गार वर्धक उपन्यास पढ़ना, ४ बाल विवाह, (छोटे छोटे वर कन्या का विवाह) ५ वृद्ध विवाह और ७ अनमेल विवाह (वर

छोटा कन्या बड़ी, या कन्या छोटी वर बड़ा) जैसे समाजिक और वैयक्तिक पतन के कारणों से भी है।

मेरी समझ में इन घृणित दुराचारों को रोकने का सर्व श्रेष्ठ उपाय यही है कि माता पिता अपने बच्चों को सबसे पहिले सदाचार के संस्कार से ही विभूषित करने की प्रतिज्ञा करे। सदाचार एक ऐसा आभूषण है जो न कभी मैला हो सकता है न कभी खो सकता है, व्यक्ति के साथ छाया की तरह सदा साथ रहता है। बालक ही वे युवक होते हैं जो एक दिन पिता का भार ग्रहण कर कुटुम्ब में धर्म परम्परा चलाते हैं, बालक ही वे नेता होते हैं जो समाज का नेतृत्व कर उसे नवीन जीवन और जागृति प्रदान करते हैं, यहां तक कि बालक ही वे महर्षि होते हैं जो जनता को कल्याण पथका प्रदर्शन कर शान्ति और सच्चा सुख प्राप्त कराने में सहायक बनते हैं।

१०. गृहस्थों के सयम मे सबसे पहिले इन्द्रिय संयम को कहा है। उसका कारण यही है कि यह इन्द्रिया इतनी प्रबल हैं कि वे आत्मा को हठात् विषय की ओर ले जाती हैं, मनुष्य के ज्ञानादि गुणों को तिरोहित कर देती हैं, स्वीय विषय के साधन निमित्त मन को सहकारी बनाती हैं, मन को स्वामी के बदले दास बना लेतीं हैं। इन्द्रियों की यह सबलता आत्म-कल्याण मे बाधक है। अत उनका निग्रह अत्यावश्यक है। उपाय यह है कि सर्व प्रथम इन्द्रियों का प्रवृत्ति ही उस ओर न होने दो परन्तु यदि जब कोई इन्द्रिय का समभिधान हो रहा है, कोई प्रतिबन्धक कारण विषय-निवारक नहीं है, और आप उसके ग्रहण करने के लिये तत्पर होगये हैं तो उसी समय आपका कार्य है कि इन्द्रिय को विषय से हटाओ उसे यह

निश्चय करा दो कि तेरी अपेक्षा मैं ही बलशाली हूँ, तुझे विषय ग्रहण न करने दूंगा। जहां दस पांच अवसरों पर आप ने इस तरह विजय पा ली अपने आप इन्द्रियां आपके मन के अधीन हो जायेंगी। जिस विषय सेवन करने से आपका उद्देश्य काम तृप्त करने का था वह दूर होकर शरीर रक्षा की ओर आपका ध्यान आकर्षित हो जायगा। उस समय आपकी यह दृढ़ भावना होगी कि मेरा स्वभाव तो ज्ञाता दृष्टा है, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यवाला है। केवल इन कर्मों ने इस प्रकार जकड़ रखा है कि मैं निज परिणति को परित्याग कर इन विषयों द्वारा तृप्ति चाहता हूं। यह विषय कदापि तृप्ति करने वाले नहीं। देखने में तो किंपाक सदृश मनोहर प्रतीत होते हैं किन्तु परिपाक में अत्यन्त विरस और दुःख देने वाले हैं। मैं व्यर्थ ही इनके वश होकर नाना दुखों की खानि हो रहा हूं। इस तरह की भावनाओं से जीवन में एक नवीन स्फूर्ति और शुभ भावनाओं का सञ्चार होता है, विषयों की ओर से विरक्ति होकर सुपथ की ओर प्रवृत्ति होती है।

११. जिन उत्तम कुल-शील-धारक प्राणियों ने गृहस्था वस्था में उदासीन-वृत्ति अवलम्बन कर विषय सेवन किये वे ही महानुभाव उस उदासीनता के बल से इस परम पद के अधिकारी हुए। श्री भरत चक्रवर्ती को अन्तर्मुहूर्त में ही अनन्त चतुष्टय लक्ष्मी ने सवरण किया वह महनीय पद प्राप्ति इसी भावना का फल है। ऐसे निर्मल पुरुष जो विषय को केवल रोगवत् जान उपचार से औषधिवत् सेवन करते हैं उन्हें यह विषयाशा नागिन कभी नहीं डस सकती।

१२. ससार में जो व्यक्ति काम जैसे शत्रुपर विजय पा लेते हैं वही शूर हैं। उन्हीं की शुभ भावनाओं के उदयाचल पर उस

दिव्य ज्योति तीर्थंकर सूर्य का उदय होता है जिसके उदय होते ही अनादिकालीन मिथ्यान्धकार ध्वंस हो जाता है।

१३. ब्रह्मचर्य एक ऐसा व्रत है जिसके पालने से सम्पूर्ण व्रतों का समावेश उसी में हो जाता है तथा सभी प्रकार के पापों का त्याग भी उसी व्रत के पालने में हो जाता है। विचार कर देखिये जब स्त्री सम्बन्धी राग घट जाता है तब अन्य परिग्रहोंसे सहज ही अनुराग घट जाता है क्योंकि वास्तव में स्त्री ही घर है, घास फूस, मिट्टी चूना आदि का बना हुआ घर घर नहीं कहलाता। अतः इसके अनुराग घटाने से शरीर के शृङ्गारादि अनुराग स्वयं घट जाते हैं। माता पिता आदि से स्नेह स्वयं छूट जाता है। द्रव्यादि की वह ममता भी स्वयमेव छूट जाती है जिसके कारण गृहबन्धन से छूटने में असमर्थ भी स्वयंमेव विरक्त होकर दैगम्बरी दीक्षा का अवलम्बन कर मोक्षमार्ग का पथिक बन जाता है।

१४ ब्रह्मचर्य साधक व्यवस्था मे मुख्यतया इन बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिये—

१ प्रातः ४ बजे उठकर धार्मिक स्तोत्रका पाठ और भग— वन्नामस्मरण करने के अनन्तर ही अन्य पुस्तकों का अध्ययन पर्यटन या गृहकार्य किया जाय।

२. सूर्य निकलने के पहले ही शौचादि से निवृत्त होकर खुले मैदान मे अपनी शारीरिक शक्ति और समयानुसार डंड, बैठक, आसन, प्राणायाम आदि आवश्यक व्यायाम करे।

३ व्यायाम के अनन्तर एक घण्टा विश्रान्ति के उपरान्त ऋतु के अनुसार ठण्डे या गरम जल से अच्छी तरह स्नान करें। स्नान के अनन्तर एक घण्टा देव पूजा और शास्त्र स्वाध्याय आदि धार्मिक कार्य कर दस बजे के पहिले तक का जो समय शेष रहे उसे अध्ययन आदि कार्यों मे लगावे।

४. दस बजे निर्द्वन्द्व होकर शान्तचित्त से भोजन करें। भोजन सादा और सात्विक हो। लाल मिर्च आदि उत्तेजक, रबड़ी मलाई आदि गरिष्ठ एवं अन्य किसी भी तरह के चटपटे पदार्थ न हों।

५. "भोजन के बाद आधे घण्टे तक या तो खुली हवा मे पर्यटन करे या पत्रावलोकन आदि ऐसा मानसिक परिश्रम करें जिसका भार मस्तिष्क पर न पड़े। बाद में अपने अध्यय--नादि कार्य में प्रवृत्त हों।

६. सायंकाल चार बजे अन्य कार्यों से स्वतन्त्र होकर शौचादि दैनिक क्रिया से निवृत्त होने के पश्चात् ऋतु के अनु-सार पांच या साढ़े पांच बजे तक सूर्यास्त के पहिले पहिले भोजन करे।

७ भोजन के पश्चात् एक घण्टे खुली हवा मे पर्यटन करे तदनन्तर दस बजे तक अध्ययनादि कार्य करे।

८. दस बजे सोने के पूर्व ठण्डे जल से घुटनों तक पैर और ऋतु अनुकूल हो तो शिर भी धोकर स्तोत्र पाठ या भगवन्नामस्मरण करके शयन करें।

६ सदा अपने कार्य से कार्य रखे व्यर्थ विवाद में न पड़े।

१०. अपने समय का एक एक क्षण अमूल्य समझ उसका सदुपयोग करे।

११. मनोवृत्ति दूषक साहित्य, नाटक, सिनेमा आदि से दूर रहे

१२. दूसरों की मा बहिनों को अपनी मां बहिन समझे।

१३. "सत्सगति और विनय जीवन की सफलता का अमोघ मन्त्र है" इसे कभी न भूले।

अवतरण पद्यानुक्रम